खण्ड 4
भारतीय राज्यव्यवस्था के प्रमुख विचारक एवं सिद्धांत

खंड परिचय

भारतीय सामाजिक संस्थान और राज्य व्यवस्था के इस पाठ्यक्रम के चतुर्थ खंड में भारतीय राज्य व्यवस्था के प्रमुख विचारक एवं सिद्धान्त में आप भारतीय राज्य व्यवस्था के बारे में अध्ययन करेंगे। संस्कृत ग्रंथों में भारतीय राजनीति के बारे में विस्तार से बताया गया है जिसमें वैदिक काल से लेकर लौकिक ग्रंथों में राजनीति पर विस्तार से विचार किया गया है। भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारकों में आचार्य मनु, आचार्य कौटिल्य और आचार्य कामन्दक का नाम महत्वपूर्ण विचारकों के रूप में प्राप्त होता है। आचार्य मनु का राजशास्त्र, शुक्राचार्य के शुक्रनीति, सोमदेव सूरी का नीतिवाक्यामृत और महात्मा गांधी के गांधी–गीता के माध्यम से भारतीय राजतंत्र को बताया गया है। राज–व्यवस्था के विविध सिद्धांतों यथा सप्तांग सिद्धांत, मण्डल सिद्धांत, षाड्गुण्य सिद्धांत, चतुर्विध उपाय और त्रिवर्ग के सिद्धांतों का अध्ययन किया गया है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 14 भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारक एवं विचार– मनु, कौटिल्य और कामन्दक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 भारतीय राज्यव्यवस्था का परिचय

14.3 भारतीय राज्यव्यवस्था के महत्वपूर्ण विचारक– मनु, कौटिल्य और कामन्दक

14.3.1 मनु

14.3.2 कौटिल्य

14.3.3 कामन्दक

14.4 राज्यव्यवस्था का महत्व

14.5 सारांश

14.6 बोध प्रश्न/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारतीय राजनीति के बारे में जानेंगे।
- भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारकों के बारे में जानेंगे।
- आचार्य मनु और उनके द्वारा दिए गए राजनीति के विचारों को समझेंगे।
- आचार्य कौटिल्य के व्यक्तित्व उनके विचारों से परिचित हो सकेंगे।
- कौटिल्य अर्थशास्त्र के वर्ण–विषयों को भलीभांति समझ सकेंगे और आचार्य कौटिल्य द्वारा दिए गए राज्य–प्रबन्धन विषयक उपदेशों को अपने भाषा में लिख सकेंगे।
- राजनीति संबंधी आचार्य कामन्दक के विचारों को जानेंगे।
- राज्य–व्यवस्था के विविध सिद्धांतों के बारे में पढ़ेंगे।

14.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारकों आचार्य मनु, आचार्य कौटिल्य एवं आचार्य कामन्दक के विचार भारतीय राज्य व्यवस्था को जानने और समझने के लिए उनका अध्ययन करना आवश्यक है। शुक्राचार्य के शुक्रनीति, सोमदेव सूरी का नीतिवाक्यामृत तथा महात्मा गांधी द्वारा विरचित गांधी–गीता में राज्य व्यवस्था संबंधी श्लोकों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। किसी राज्य की राज–व्यवस्था को समझने के लिए उनके मण्डल सिद्धांत, साप्तांग सिद्धांत, षाड्गुण्य सिद्धांत, चतुर्विध उपाय और त्रिवर्ग

को जानना महत्वपूर्ण होता है। इसलिए इस इकाई में उन्हीं सिद्धांतों को स्पष्ट किया गया है।

14.2 भारतीय राज्यव्यवस्था का परिचय

भारतीय राजशास्त्र में अनेक आचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिन्होंने राजशास्त्रीय विषयों का गहन अध्ययन करते हुए अनेक राजशास्त्र से संबंधित ग्रन्थों को लिखा है। उनका विभाजन उनको विविध काल (युग) में स्थान देकर किया जा सकता है, यथा–

वेदकालीन राजशास्त्रप्रणेता

वेदकालीन व्यवस्था में यद्यपि स्वतंत्र रूप से राजशास्त्र के विषय में कुछ नहीं मिलता अर्थात् वहाँ किसी एक विषय को क्रमबद्ध रूप में न दिए जाने के कारण राजनीति सम्बधी विचार एक जगह नहीं मिलते, परन्तु जब वहाँ राजशास्त्रीय ऋचाओं को अलग कर उनके संरक्षण कर्ता (रचयिता) ऋषियों का मूल्यांकन कर पृथक करते हैं, तो कुछ ऋषि यथा – उशना, भृग आदि ऋषियों का नामकरण इस सन्दर्भ में प्राप्त होता है।

सूत्रकालीन राजशास्त्र प्रणेता : यहाँ धर्मशास्त्रों में राजशास्त्र की विशेष रूप से चर्चा हुई है, यथा–गौतम धर्मसूत्र, मानव धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, गोभिल धर्मसूत्र। परन्तु यहाँ भी राजशास्त्र संबंधी सामग्री बहुत कम है। पाणिनी ने अष्टाध्यायी में अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है, जो इसके पश्चात् के साहित्य में राजशास्त्र के प्रणेता बताए गए हैं। परन्तु यहाँ भी इनके नामों के अतिरिक्त अन्य सामग्री न मिलने पर इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्राक्मौर्य कालीन राजशास्त्र प्रणेता : मौर्य काल के प्रमुख राजशास्त्री कौटिल्य हैं, जिसके द्वारा रचित अर्थशास्त्र में इनके पूर्व के अनेक आचार्यों का नाम प्राप्त होता है, यथा– वैदिक कालीन ऋषि मनु, बृहस्पति, उशना को माना है, जो राजशास्त्र के प्रणेता थे। इसके अतिरिक्त भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कोण पदन्त, वात व्याधि, अम्भ, बाहुदन्तीपुत्र आदि अनेक आचार्यों का नाम मिलता है, जो प्राक मौर्य काल के राजशास्त्र प्रणेता रहे हैं।

मौर्य से गुप्त काल तक के राजशास्त्र प्रणेता : मौर्य काल के प्रमुख राजशास्त्र प्रणेता कौटिल्य हुए, जिन्हें चाणक्य या विष्णुगुप्त नामों से भी जाना जाता है। उन्होंने अर्थशास्त्र के माध्यम से मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हुए, अपने राजशास्त्र संबंधि विचारों को वर्णित किया है। कौटिल्य की इसी शक्ति के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का नाश कर दिया। उनके द्वारा लिखित अर्थशास्त्र आज भी राजनीतिक (राजशास्त्र) के साहित्य में अद्वितीय एवं अपूर्व ग्रन्थ की भूमिका में है। मौर्य वंश (साम्राज्य) के पतन के पश्चात शुंगवंश ने शासन किया, जिसके प्रतापी राजा पुष्यमित्र शुंग ने राजशास्त्र की धर्मशास्त्रीय विचारधारा को अपनाया। कुछ विद्वानों के अनुसार मानवधर्म सूत्र इसी काल की रचना है, जो वर्तमान में अप्राप्य है।

गुप्तकाल के प्रारम्भ से हर्ष की मृत्यु तक राजशास्त्र प्रणेता : समुद्रगुप्त सम्राट से हर्ष के निधन तक दो महत्वपूर्ण राजशास्त्र प्रणेताओं के नाम मिलते हैं – कामन्दक और शुक्र। कामन्दक ने कामन्दकीय रचना की, जहाँ इन्होंने स्वीकारा है कि उन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र को आश्रित करके ही यह ग्रन्थ लिखा है।

शुक्राचार्य न शुक्रनीति की जिसका कुछ अंश गुप्तकाल से पहले का है, जिसको पृथक मुश्किल है। प्राचीन भारतीय शासन की इस व्यवस्था का नीतिग्रन्थ प्रकार क्रमबद्ध वर्णन हुआ है, वैसा वैदिक अर्थशास्त्र के उपरान्त किसी में नहीं मिलता।

सम्राट हर्ष के निधन के उपरान्त राजशास्त्र प्रणेत

शुक्रनीति के पश्चात सोमदेव कृत नीतिवाक्यमृत ही ऐसी रचना है जिसे मौलिक माना जा सकता है। इन ग्रन्थों के पश्चात् भी अनेक ग्रन्थ हुए. परन्तु ये सब केवल संकलनमात्र ही हैं।

इस प्रकार भारतीय राजशास्त्र की विचारधारा ऋग्वेद से निकलकर हजारों वर्षों तक प्रवाहित हुई। अब इन महत्वपूर्ण विचारों को विस्तार पूर्वक बताया जा रहा है।

14.3 भारतीय राज्य व्यवस्था के महत्वपूर्ण विचारक– मनु, कौटिल्य और कामन्दक

भारतीय राज्य व्यवस्था के महत्वपूर्ण विचारकों में आचार्य मनु, कौटिल्य और कामन्दक का नाम महत्वपूर्ण है। मानव धर्मशास्त्र के रचयिता मनु को अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और ब्रह्मा आदि अनेक रूपों में जाना जाता है। मनु–स्मृतिकार के रचयिता आचार्य मनु ने भारतीय राज–व्यवस्था के बारे में सातवें अध्याय में राजधर्म विषय के अंतर्गत स्पष्ट किया है। इसी कारण से इस अध्याय का नाम राजधर्म भी है। राजधर्म का अर्थ राजा के द्वारा किये जाने वाले धर्म के रूप में लिया गया है। राजा का सामान्य अभिप्राय है राज्यों के कार्यों को करने वाला प्रधान तथा धर्म से अभिप्राय है कर्तव्य। इससे स्पष्ट होता है कि राज धर्म का अर्थ है राज्य के शासक द्वारा अपनी प्रजा के हित में अपने कर्तव्यों को करना। राजा राजधर्म का पालन करने के लिए दण्ड की शक्ति रखता है जो भी मनुष्य अज्ञानतावश या मोहवश उससे द्वेष करता है उसका विनाश निश्चित है क्योंकि राजा ही उसके सर्वविध विनाश का मन बना लेता है। इसलिए राजा के द्वारा निर्धारित किये गये नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन्हीं नियमों से राजा शिष्ट आचरण या व्यवहार अपनी प्रजा में कायम रखता है तथा दुष्ट लोगों का दमन करता है। इसी कारण दण्ड को ईश्वर के पुत्र के रूप में माना जाता है। इस प्रकार राजा राजधर्म का पालन करते हुए प्रजा के रक्षण का कार्य करता है। भारतीय राज्य व्यवस्था के महत्वपूर्ण विचारकों में आचार्य कौटिल्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कौटिल्य से पूर्व अनेक आचार्यों ने राजनीति संबंधी ग्रंथों में राज्य व्यवस्था के बारे मे बताया है। परंतु जो भी सिद्धांत मिलते है वे यत्र–तत्र बिखरे हुए रूपों में प्राप्त होते है। यथा प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा और राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के लिए राजा द्वारा लोक कल्याणकारी कार्यों को करने के लिए, प्रजा का धर्म के अनुसार आचरण करने के लिए, अपराधियों को अपराध के अनुसार उचित दण्ड व्यवस्था करने और लोक–नियंत्रण आदि करने के विषयों को रखा है। कौटिल्य के अनुसार राज्य प्रजा सहित राजा का ऐसा संगठन है जिसमें राजा का प्रजा पर पूर्ण अधिकार रहता है। आचार्य कामन्दक ने राज्य व्यवस्था संबंधी सिद्धांतों को अपने कामन्दकीय नीति में सुचारू रूप से स्पष्ट किया है।

14.3.1 मनु

प्राचीन भारतीय जनश्रुति के अनुसार आचार्य मनु को ब्रह्मा के मानस पुत्र के रूप में जाना जाता है। यहाँ कहा गया है कि स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने श्रृष्टि रचना के समय

मनु को धर्मशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्रदान किया, जिसे मनु ने मानव–कल्याण के लिए मारीचि आदि ऋषि–मुनियों को प्रदान किया। इस प्रकार यह ज्ञान गुरु–शिष्य परम्परा से मनु द्वारा दिया गया 'धर्मशास्त्र' आज तक भी प्रचलित है। जिसे मनु के उपदेशों का संकलन 'मानवधर्म शास्त्र' कहा जाता है।

नारदस्मृति के अनुसार मनु को धर्मशास्त्र का आदि प्रणेता माना गया। यहाँ नारद इसी प्रसंग को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि – 'मनुष्य के आचार के हेतु मनु ने धर्मशास्त्र की रचना की। जहाँ लोक–सृष्टि, भतप्रतिविभागादि चौबीस प्रकरणों में एक लाख श्लोकों को एक हजार अध्यायों में प्रणीत किया और देवर्षि नारद को प्रदान किया। नारद ने यही विशालकाय धर्मशास्त्र संक्षिप्त करके बारह हजार श्लोकों में प्रणीत किया और मार्कण्डेय को प्रदान किया। मार्कण्डेय ने इसे आठ हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को दिया तथा सुमति भार्गव ने चार हजार श्लोकों में संक्षिप्त कर यह मनुष्यों को प्रदान किया। इस प्रकार इसी सिद्धान्त को वात्स्यायन, याज्ञवल्क्य, गौतम, आपस्तम्ब, पराशर, शंख आदि स्मृतिकारों ने मानते हुए मनु को ही आदि धर्मशास्त्र का प्रणेता स्वीकार किया है।

एक अन्य मत के अनुसार मनु का जन्म अनेक कालों में हुआ है, जिनमें से सर्वप्रथम विराट् पुरुष ने मनु को जन्म दिया। फिर मनु ने घोर तप करके दस प्रजापतियों (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु, नारद) को जन्म दिया। इन दस प्रजापतियों ने स्वारोचिष आदि मनुओं को जन्म दिया तथा सावर्णि आदि ने अन्य सात मनुओं को जन्म दिया। अतरू मनुस्मृति तथा पुराणों में क्रमशरू सात और चौदह मनुओं को सृष्टिपालनकर्ता माना है।

वर्तमान में मनु द्वारा रचित ग्रन्थ मनुस्मृति ही मिलता है, जहाँ स्वयं भगवान मनु ने इसे अपने द्वारा रचित बताया है। जिसमें 12 अध्यायों में अनेक विषयों पर विचार किया गया है। इसमें 2694 श्लोक हैं, जिनमें तत्कालीन समाज के व्यवहार में प्रयोग होने वाले सभी विषयों का समावेश किया गया है। जिसके विषय में कुल्लूक भट्ट ने कहा है **'सकलवेदार्थादिमननाद् मनुः'** अर्थात् मनु ने इस स्मृति में वेदों में प्रयुक्त होने वाले समस्त अर्थों का मनन किया है।

मनुस्मृति के काल के विषय में निर्विवादित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, निश्चित रूप से गुरु–शिष्य परम्परा से इनका कालक्रम परिवर्तित होता गया। वैसे तो मनु का काल जनश्रुति के आधार पर मानव के प्रारम्भ होने के काल को कहा जाता है। परन्तु जब इसमें निहित विषय महाभारत के समान तथा मौर्य काल की कुछ परम्पराओं के साथ भी दिखते हैं तो निश्चित रूप से काल विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब प्रमुख स्मृतिकाल को विभाजित किया जाता है तो उसे 200 ई० पू० से 200 ई० तक माना जाता है तथा मनुस्मृति के सबसे प्राचीन होने के कारण इसे ई० पूर्व तीसरी से चौथी शताब्दी की रचना माना जाता है।

इस प्रकार तत्कालीन देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार संशोधित शास्त्र मनुस्मृति है। वर्तमान में मानवधर्मशास्त्र का सिर्फ नाम प्राप्त होता है उसकी प्रति हमें उपलब्ध नहीं होती। परन्तु मनुस्मृति में विहित मनु के विचारों के आधार पर धर्मशास्त्रीय, राजशास्त्रीय व्याख्याएँ मिलती है जिनके आधार पर सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक व्यवस्थाओं का ज्ञान होता है। आचार्य मनु के अनुसार वेदों को श्रुति कहा जाता है तथा धर्मशास्त्र को 'स्मृति'– **''श्रुतिस्तु वेदों विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति।'**

वर्तमान में सौ से अधिक स्मृति ग्रन्थ मिलते हैं, जिनको सबसे प्राचीन स्मृति मनुस्मृति से प्रभावित माना जाता है। मनु ही धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता रहे हैं, जिनसे प्रभावित होकर गुरु–शिष्य परम्परा के आधार पर आगे–आगे धर्मशास्त्र का विकास होता गया। अतः मनुस्मृति धर्मशास्त्र की विचारधारा का प्रधान ग्रन्थ है, जो उनके अनुयायियों द्वारा सुरक्षित रखा गया है। जिसमें राज्य का स्वरूप, राजा के कर्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य माप दण्ड, धर्म, मंत्रिपरिषद्, कार्य प्रणाली, व्यवहार स्थापना आदि विषयों को वर्णित किया गया है। यहाँ राजनीति को धर्म के अंग के रूप में स्वीकारा गया है।

न्यायपालिका के स्वरूप के बोध तथा उसके कर्तव्यों आदि के अध्ययन के लिए भी धर्म के स्वरूप का बोध होना आवश्यक है। यहाँ धर्म को प्रत्यक्ष लक्षण (साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्) कहा गया है, जहाँ धर्म का मूल वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि को माना है। उनके अनुसार धर्ममूल निर्विवाद और सत्य है तथा इन्हीं चारों से धर्म प्रकाशित रूप में आता है। मनु ब्रह्म देश को अपने समय का श्रेष्ठ देश मानते हुए ब्रह्म देश के लोगों द्वारा किए गए व्यवहार को श्रेष्ठ मानते हैं। अतः इस समय में प्राप्त वर्ण संस्कारों, वर्णों आदि के आधार को ही शिष्टाचार या सदाचार कहा है। वेद को तो स्वतः प्रमाण माना है तथा इसमें किए गए विषयों को अनुष्ठेय माना है तथा स्मृतियाँ वेदानुकूल होने के कारण इनको भी धर्म का मूल कहा है क्योंकि स्मृतियाँ वेदानुकूल अर्थ को धारण किए हुए धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का प्रतिपादन करती हैं। यहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय के साथ–साथ वर्णधर्म, वर्णाश्रम धर्म, आश्रम धर्म, गुणधर्म आदि विविध धर्मों का वर्णन मिलता है, इसी करण इस ग्रन्थ को धर्मशास्त्रीय वाङ्मय भी कहा जाता है।

14.3.2 कौटिल्य

भारतीय राजनीति की ज्ञान परम्परा में कौटिल्य का अद्वितीय स्थान है। प्राचीन राजनीतिक साहित्यिक ग्रन्थों में अनेक बार कौटिल्य तथा अर्थशास्त्र का नामोल्लेख प्राप्त होता है, जिसके आधार पर कौटिल्य नामक श्रेष्ठ राजशास्त्री का पता चलता है, जिसने 'अर्थशास्त्र' की रचना की, जिसकी रचना मौर्य काल के समय की है। अतः वही काल उनके जीवन का काल भी माना जाता है।

हालांकि उस समय की यह प्रति अनुपलब्ध है। परन्तु खण्डों में तंजौर के एक ब्राह्मण द्वारा प्राप्त हस्तलिखित पाण्डुलिपि मिलती है, जो उस ब्राह्मण ने मैसूर के प्राच्य पुस्तकालय को भेट की थी। इसका प्रकाशन 1909 में किया गया।

आचार्य कौटिल्य का नाम अनेक स्थानों पर विचार का विषय बन गया है क्योंकि उनका नाम मत्स्यपुराण वायुपुराण में कौटिल्य प्राप्त होता है। परन्तु कुछ स्थानों पर विष्णुगुप्त नाम मिलता है। हरिहर शास्त्री सम्पादित जयमंगला व्याख्या में कौटिल्य गोत्र का वर्णन मिलता है. **'कुटलं नाम गोत्र तस्य अपत्यं कौटल्य'** अर्थात् कुटिल गोत्र से कौटिल्य नामकरण हुआ। इसी प्रकार मुद्राराक्षस में **''कौटिल्यः कुटिलः मतिः''** मिलता है, जो इस आचार्य की कुटिल बुद्धि की ओर संकेत करता है। इस पकार यह भी हो सकता है कि कौटिल्य नाम कुटिलता के भाव वाचक के रूप में लिखा जाने लगा हो।

विष्णपुराण की श्रीधर लिखित टीका अनुसार कौटिल्य, चाणक्य, विष्णुगुप्त, वात्स्यायन आदि सभी पर्यायवाची नाम है अर्थात् ये सब एक ही व्यक्ति के नाम है।

कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार कौटिल्य का असली नाम विष्णुगुप्त था, जिसने नंद वंश का नाश कर मौर्य वंश की सत्ता को स्थापित किया। ऐतिहासिक तथ्य पूर्णतया यह स्पष्ट करते हैं कि मौर्य वंशी चन्द्रगुप्त ने विष्णुगुप्त नामक, कुटिलमति राजनीतिज्ञ की सहायता से नंद वंश का नाश कर मौर्य वंश की स्थापना की। चन्द्रगुप्त ने 323 ई० पूर्व से 298 ई० पूर्व तक राज्य किया। चाणक्य के जीवन, कार्यकाल और स्थितिकाल आदि प्रमाणों के आधार पर कौटिल्य को अर्थशास्त्र रचयिता तथा मौर्य काल की रचना स्वीकार कर लिया गया है। हो सकता है इसमें कुछ अंश बाद में जोड़ा गया हो। परन्तु उन कुछ अंशों के अतिरिक्त पूरा ग्रन्थ मौर्य काल की शासन व्यवस्था और आर्थिक दशा की महत्वपूर्ण सामग्री को लिए हुए है।

अतः कौटिल्य ही विष्णगुप्त, चाणक्य है, जिन्होंने 15 अधिकरण पाल अर्थशास्त्र की रचना की। इसमें 180 प्रकरण हैं तथा अधिकरणों के अन्तगत 150 अध्याय हैं। इनके द्वारा रचित 15 अधिकरण इस प्रकार हैं–

1. विनयाधिकारिक
2. अध्यक्षप्रचार
3. धर्मस्थीय
4. कण्टक–शोधन
5. योगवृत
6. मण्डल–योनि
7. षाड्गुण्य
8. व्यसनाधिकारिक
9. अभियास्यत्कर्म
10. साझामिक
11. वृत्तसंघ
12. आबलीयस
13. दुर्गलम्भोपाय
14. औपनिषदिक
15. तन्त्रमुक्ति।

अतः भारतीय राजशास्त्र के सिद्धान्तों के उद्भव में कौटिल्य का अभूतपूर्व योगदान रहा है। जहाँ उन्होंने सभी विषयों को विस्तार पूर्वक वर्णित किया है। चाणक्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्वयं विष्णुगुप्त ने ही भाष्य की रचना की है।

कौटिल्य के नाम और जन्म के साथ उनके जन्म स्थान का भी उल्लेख नहीं मिलता। उस समय तक्षशिला विश्वविद्यालय विद्या प्राप्ति का प्रमुख केन्द्र था। इस आधार पर उनका जन्म स्थान भी गांधार जनपद 'तक्षशिला' को माना जाता है। कौटिल्य ने इसी नगर में शिक्षा प्राप्त कर इसी विश्वविद्यालय में अध्ययन कार्य भी किया। कौटिल्य से पूर्व अनेक आचार्यों ने राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थों में राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्तों को वर्णित किया है। परन्तु उनसे पहले के लिखे गए ग्रन्थों में निश्चित सिद्धान्तों का अभाव रहा है, जो सिद्धान्त मिलते हैं वे यत्र–तत्र बिखरे हुए है, यथा– प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा और राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के लिए राजा द्वारा लोक कल्याणकारी

कार्यों को करने, प्रजा का धर्म के अनुसार आचरण करने, अपराधियों को अपराध के अनुसार उचित दण्ड व्यवस्था करने, लोक नियन्त्रण आदि विषयों को रखा।

इस प्रकार राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी दैवी सिद्धान्तों, उसकी शक्ति और सिद्धान्तों को क्रमबद्ध करके सूत्रबद्ध रूप में निबद्ध किया है।

हालांकि उन्होंने राज्य की उत्पत्ति के संबद्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, परन्तु टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि वे राज्य के दैवी सिद्धान्त के स्थान पर सामाजिक समझौते या अनुबंध के पक्षधर थे। इसीलिए तो उन्होंने कहा–

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम्।
न आत्मं प्रिय हितं राज्ञः, प्रजानामं तु प्रियं हितम्।।

अर्थात् प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है तथा प्रजा के हित में ही राजा का हित है। राजा का अपना कोई हित नहीं होता, प्रजा का हित ही राजा का हित होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का राज्य एक कल्याणकारी राज्य था, जिसमें राजा का उद्देश्य जनता के हित एवं सुख के लिए कार्य करना था। प्राचीन राजनीति में आध्यात्मिक दृष्टि राज्य के प्रत्येक पहलू में नजर आती है। यहाँ सभी राजनीतिक विचारों पर धर्म हावी रहा तो कभी मौज रूप में रहा। तत्कालीन समाज में अनेक धार्मिक विचारों के उदित होने के कारण पारस्परिक संघर्ष भी बढ़ने लगा, जिसे दूर करने के लिए राज्य को धार्मिक कार्यों में भी हस्तक्षेप करना पड़ा। इस प्रकार समाज में व्याप्त सामाजिक व्यवस्थाएं भी राजनीति को प्रभावित करती रहीं।

इस प्रकार प्रयोगवादी राजनीति का दौर चल रहा था, जिसमें कौटिल्य ने यथार्थवादी परिवर्तनों के साथ चलते हुए राजनीति को सैद्धान्तिक रूप में प्रकट किया तथा यथार्थवाद को कौटिल्य ने व्यवहारिक पक्ष के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के माध्यम से सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। अब तक जिस राजा को दैवी शक्ति माना जा रहा था, उसे कौटिल्य ने विशुद्ध मानवीय शक्ति के रूप में दिखाया। हालांकि दैवीय सिद्धान्त को अंशतः स्वीकार भी किया। परन्तु मुख्य लक्ष्य राजनीति के व्यवहारिक पक्ष को ही रखा। इसीलिए राज्यभिषेक संस्कार की चर्चा न करके उत्तराधिकार के विभिन्न विकल्पों को रखा, ताकि विवादित स्थिति से बचा जा सके। उन्होंने धर्म से राजनीति को अलग रखते हुए कहा कि धर्म का उद्देश्य अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्त्तव्यों के पालन से हैं। राजा का मुख्य उद्देश्य राज्य में ऐसी कानून व्यवस्था को लागू करने से हैं, जिससे प्रजा सुविधानुसार अपने–अपने धर्मों का पालन कर सके। उनके अनुसार राज्य का लोक कल्याणकारी रूप राज्य के आवश्यक तत्वों, अधिकारों व कर्त्तव्यों में निहित है अर्थात् कहा जा सकता है कि उन्होंने राजनीति का कुटनीति रूप प्रस्तुत किया। जिसमें राजा की शिक्षा, गुण, दिनचर्या, सभी विषयों को भी अर्थशास्त्र में रखा।

कौटिल्य के अनुसार राज्य प्रजा सहित राजा का ऐसा संगठन है, जिसमें राजा का प्रजा पर पूर्ण नियंत्रण या अधिकार रहता है। यहाँ राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने कार्यों तथा अधिकारों को ईमानदारी के साथ पूर्ण करे। यहाँ राजा और राज्य को अलग–अलग रूपों में न देखकर राजा को राज्य का वैयक्तिक रूप माना है, जो प्रजा की सुरक्षा पोषण करता है, क्योंकि वह एक लोक सेवक है। अर्थशास्त्र के इस सिद्धान्त से अराजकता के उन्मूलन के साथ लोगों में सुरक्षा व कल्याणकारिता का भाव जागृत होता है।

अतः कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त राजा की उत्पत्ति से ही लिया है, जिसे प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी स्वीकार किया था। इस प्रकार कौटिल्य सिद्धान्तों में वैदिक, ब्राह्मण, धर्मसूत्र, बौद्ध और जैन साहित्य में व्याप्त राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्तों का समन्वयात्मक रूप मिलता है।

इन उपर्युक्त ग्रन्थों में दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा को स्वयं ईश्वर बताया है हालांकि उसके बाद के विचारकों ने भी दैवी सिद्धान्त को माना है। परन्तु उनकी विचारधारा भिन्नता लिए हुए है। उन्होंने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है, स्वयं ईश्वर नहीं। इसी विचार के साथ कौटिल्य ने भी कहा है कि– ब्रह्म ने प्रजा की रक्षा हेतु राजा को निर्मित किया है। उन्होंने यहाँ राजा–प्रजा के बीच समझौते को महत्व दिया है। इसी समझौते को सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सम्बन्ध में यह माना जाता है कि जब राजा की सत्ता नहीं थी और लोग धर्म का पालन करते हुए स्वशासन करते थे, तब स्वर्णिम युग था। ऐसे समाज का अस्तित्व सृष्टि के प्रारम्भ में रहा होगा। जहाँ जीवन एक आदर्शात्मक स्थिति में माना जा सकता। परन्तु समय के साथ–साथ जैसे–जैसे इसमें दोष आते गए, तो समाज भी विघटन की स्थिति में पहुँचने लगा। तब देवों ने ब्रह्मा से शासक उत्पत्ति की प्रार्थना की तब ब्रह्मा ने राजा को बनाया तथा राजा ने अन्य देवों के समक्ष प्रजा की सुरक्षा की शपथ ली तथा बदले में प्रजा ने अपनी आय का कुछ हिस्सा राज्य को दिया। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त को देने के पीछे लक्ष्य यह रहा कि जब समाज में धर्म के माध्यम से कोई बात रखी जाती है, तो जनसाधारण उसे स्वीकार करने में देरी नहीं करता। इसी कारण कहा गया कि राजा को देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने बनाया अर्थात् प्रजा राजा का देवता के समान सम्मान कर सके।

अतः राजा के लिए यह निर्देश है कि तुम्हारी उत्पत्ति सिर्फ प्रजा की सेवा के लिए है। जब यह कहा गया कि प्रजा अपनी उपज (उत्पन्न अनाज) का कुछ भाग राज्य को देगी तो यह केवल राज्य व्यवस्था के पालन में प्रजा की सहभागिता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से ही था, क्योंकि राज्य को चलाने के लिए जिन साधनों की जरूरत पड़ती है, वह सब साधन राजा स्वयं ही उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके लिए सबके सहयोग की आवश्यकता पड़ती है तथा जब तक इस सामाजिक समझौते की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी, राज्य कभी कल्याणकारी नहीं बन सकता। अर्थशास्त्र की इस मूल प्राकृतिक अवस्था से ही आदर्श एवं कल्याणकारी राज्य की उत्पत्ति सम्भव है। जिसे आज भी किसी न किसी रूप में अपनाया जा रहा है।

दण्डनीति की उपादेयता

राजशास्त्र विषयक अध्ययन वैदिक युग के समाप्त होने के बाद में आरम्भ हुआ। जहाँ मानव के विकास हेतु उसके सम्पूर्ण ज्ञान को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं के रूप में बाँट दिया गया तथा प्रथम तीनों विद्याओं को स्थापित करने वाले शास्त्र के रूप में दण्डनीति को माना अर्थात् मानव जीवन के सुव्यवस्थित रूप से संचालन के लिए दण्ड की स्थापना की गई। कालान्तर में इसी दण्डनीति को राजधर्म या राजशास्त्र भी कहा जाने लगा। दण्डनीति की उत्पत्ति के विषय में हमें पुराणिक, इतिहासिक ग्रन्थ, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि में अनेक जगह वर्णन मिलता है। परन्तु अर्थशास्त्र में हमें दण्डनीति के विषय में विस्तृत विवरण मिलता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मौर्य काल की रचना है, हालांकि अर्थशास्त्र पर कौटिल्य से पहले भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। यह स्वयं कौटिल्य ने कहा है। परन्तु इन ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं होता, जैसे– बृहस्पति अर्थशास्त्र के विषय में कहा जाता है कि यह बृहस्पति रचित है। परन्तु ये सब विषय बहुत सन्देहास्पद हैं, ऐसे में जो कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में उपर्युक्त वर्णित राजनीति विषयक चार विद्याएँ महत्वपूर्ण मानी गई हैं– आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि इन चारों में से प्रथम तीन को सुचारू रूप से चलाने के लिए दण्ड को महत्त्वपूर्ण माना है अर्थात् प्रथम तीनों विद्याएँ दण्ड पर आश्रित है। दण्ड के इसी सम्यक प्रयोग की नीति को दण्डनीति कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार दण्डनीति वह नीति है, जो अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने में सहायता करती है तथा प्राप्त अर्थ की रक्षा करने में सहायक बनती है तथा रक्षित अर्थ की वृद्धि कराने वाली है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक इसके अधीन है। प्राचीन वैदिक ऋषि उशना के विषय में भी कौटिल्य ने लिखा है कि वे एकमात्र विद्या दण्डनीति को ही माने थे तथा उनके अनुसार त्रिवर्ग की सम्यक योजना इसी से कार्यान्वित होती है। इसी के माध्यम से मनुष्य धर्म, अर्थ, काम की सम्यक् व्यवस्था का पालन कर अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। समाज में अनेक तरह के पाप तथा अपराध होते हैं, जिनमें से मनुष्य अपने पापों के लिए प्रायश्चित करते थे तथा किए गए अपराधो के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

इन्हीं अपराधों से समाज को निवृत्त करने के लिए दण्ड के चार स्वरूप माने गए हैं–

1. प्रतीकारात्मक
2. अवरोधक
3. निरोधक
4. सुधारात्मक

1) प्रतीकारात्मक– दण्ड व्यवस्था बदले की भावना पर आधारित थी। अगर कोई मनुष्य किसी शरीर के जिस भाग को हानि पहुँचाता था। उसके भी उसी अंग को दण्डित किया जाता था, जैसे– आँख के बदले आँख, हाथ के बदले हाथ आदि अर्थात् अपराधी को उसके अपराध के अनुरूप ही दण्ड दिया जाता था। 'आप्तदोषं कर्मकारयेत्,' हालांकि इस दण्ड व्यवस्था को प्रारम्भिक समाज में अधिक प्रयोग किया जाता था। कौटिल्य भी इस दण्ड व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहते है– अपराधी को उसके किए गए अपराध की मात्रा के अनुसार ही अपराध प्रमाणित होने के पश्चात दण्ड दिया जाना चाहिए।

2) अवरोधक दण्ड – इस दण्ड का प्रयोग अपराध को नियंत्रित करने हेतु किया जाता था अर्थात् दण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत पहले ही चेतावनी देते हुए दण्ड को निर्धारित कर दिया जाता था, ताकि भविष्य में दण्ड के डर से अपराध न हो। कौटिल्य ने इस व्यवस्था पर विशेष रूप से ध्यान दिया, क्योंकि उनके अनुसार भय और आतंक अपने आप में अपराध को रोकने का कारगर उपाय है तथा इन दण्ड को खुले स्थान पर दिया जाता था, ताकि जनता में उस दण्ड का भय बना रहे, यथा – शरीर पर जलती हुई अग्नि रखकर मरवाना, जिह्वा छेदन कराना, हाथ–पैर बांध कर उल्टा लटकाना, नाखूनों में सुईयों का चुभोना आदि।

3) निरोधक दण्ड – जैसे कि नाम से ही ज्ञात होता है कि ऐसा अपराध जो पहले हो चुका हो, परन्तु भविष्य में उसके दमन या सुधार के प्रयास करना ही निरोधक दण्ड है। इस सिद्धान्त के अनुसार दमनकारी नीति से कार्य लिया जाता है, यथा–किसी विधि के उल्लंघन पर अपराधी को समाज के सामने एक उदाहरण के रूप में रखते हुए कड़ी सजा दे देना ताकि कोई अन्य उस विधि की अवहेलना का प्रयास ही न कर सके। हालांकि कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में भी राजा की इच्छा को महत्व न देकर धर्म के अनुसार या शास्त्रों के अनुसार दमनात्मक नीतियों के पालन के विषय में कहा है। अतः यह अवरोधन दण्ड तथा सुधारात्मक दण्ड के बीच की कड़ी के रूप में कार्य करता है, ताकि समाज से अपराध रूपी बाधक तत्त्वों को दूर किया जा सके।

4) सुधारात्मक दण्ड व्यवस्था – इस व्यवस्था के अन्तर्गत पीड़ित तथा अपराधी दोनों के अधिकारों पर समाज कल्याण हेतु ध्यान दिया जाता है, क्योंकि दण्ड का कार्य समाज में कल्याण को विकसित करना है और यह कल्याण केवल शारीरिक दण्ड देकर ही नहीं किया जा सकता। अपितु अपराधी की मनः स्थिति को जांच कर उसकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जाता है और अपराध न करने की दिशा में उसे प्रेरित किया जाता है, ताकि वह उचित मार्ग पर चले। महाभारत, कौटिल्य तथा अन्य धर्मशास्त्रों ने भी इस दण्डनीति का विधान किया है।

अपराध एक छूत की बीमारी है, अगर इस बीमारी का इलाज कर दिया जाए, तो समाज में इसे फैलने से बचाया जा सकता है तथा कौटिल्य के अनुसार इसे दूर करने का सबसे कारगर उपाय सुधारात्मक दण्ड व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत अपराधी की सामाजिक मानसिकता को समझ कर उसके आचरण विरीक्षण कर और उसमें निहित असामाजिक तत्त्वों को अलग कर समाज को इस बीमारी से बचाया जा सकता है। इसीलिए भीष्म पितामह भी प्रथम बार किए गए अपराध पर, दूसरी बार किए गए अपराध की तुलना में अपेक्षाकृत कम कठोर दण्ड की व्यवस्था करने का विधान करते हैं।

कौटिल्य ने भी इन्हीं आधारों या सिद्वान्तों का वर्णन अर्थशास्त्र में करते हुए दण्ड व्यवस्था का विधान किया है। इसके अतिरिक्त भी अनेक दण्ड यथा – वाक् दण्ड, धिक्दण्ड, अर्थदण्ड आदि को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस प्रकार दण्डनीति को राजधर्म तथा धर्म की प्राप्ति करने की महत्त्वपूर्ण शक्ति माना गया है – इस सम्बन्ध में शांति पर्व में भी कहा गया है कि जिस समय राजा दण्डनीति का सही प्रयोग करता है, उस समय पृथ्वी पर पूर्ण रूप से सतयुग का प्रारम्भ हो जाता है, जहाँ धर्म का प्रभाव रहता है तथा अधर्म दूर हो जाता है, परन्तु जब राजा दण्डनीति के 1/4 भाग को छोड़कर केवल 3 अंशों का ही अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग का प्रारम्भ होता है। जब राजा आधे भाग को छोड़कर शेष आधे भाग का अनुसरण करता है तो द्वापर युग तथा जब राजा सम्पूर्ण दण्डनीति को त्यागकर अनुचित उपायों से प्रजा को कष्ट देता है अर्थात् निरंकुश हो जाता है तब कलियुग का प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार दण्ड को ईश्वर से प्रतिरूप के समान माना गया है, क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य में कुछ भी बुरा करने पर ईश्वर के दण्ड का भयभीत रहता है। उसी प्रकार समाज में लोगों के भय के पीछे कोई कार्य करता है, तो वह दण्ड है, चाहे वह ईश्वर प्रदत्त हो या राजा के शासन द्वारा। अर्जुन ने कहा है कि – कितने ही पापी केवल

दण्ड के भय से पाप नहीं करतें हैं, यह भय कहीं यमदण्ड के रूप में, कहीं परलोक प्राप्ति के भय के रूप में विद्यमान रहता है अर्थात् जगत की स्वाभाविक स्थिति दण्ड में ही प्रतिष्ठित है।

इसी सिद्धान्त को कौटिल्य ने पूजनीय मानते हुए यथोचित दण्ड सिद्धान्त को विकसित किया– ''यथार्थ दण्डः पुज्यः'' उनके अनुसार दण्ड के अभाव में समाज में अराजकता व्याप्त हो जाती है तथा सभी वर्ण अपने धर्म का पालन करने से चूक सकते हैं। अतः लोगों को सुखी एवं सम्पन्न बनाए रखने तथा लोक मर्यादा की स्थापना के लिए दण्डनीति आवश्यक है। क्योंकि सुप्रणीत दण्ड ही प्रजा को धर्म, अर्थ और काम प्रदान करता है ''सुविज्ञात हि दण्डः धर्मार्थ कामेर्यो जयति''।

अतः दण्ड एक आधार शक्ति है, जो विधि की सर्वोच्चता का साधन है जिसका प्रयोग राजा के द्वारा अपनी इच्छा से नहीं बल्कि आधार तथा उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए, क्योंकि निज स्वार्थ के लिए दण्ड का प्रयोग स्वयं राज्य को समूल नष्ट कर सकता है।

अतः विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए दण्ड का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि पक्षपात, स्वार्थ, शक्ति संचय एवं लोभादि से दिया गया दण्ड ऐसा 'दुष्प्रणीत दण्ड' होता है, जिससे समाज में क्रांति हो जाती है। अतः विधि से युक्त दण्ड ही राजा तथा प्रजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति में सहायक बनता है। अतः दण्ड तथा धर्म को क्रमशः शक्ति और उद्देश्य से जोड़कर मान के अन्तिम लक्ष्य का प्रतिपादन किया है।

14.3.3 कामन्दक

भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख विचारकों में कामन्दक का महत्वपूर्ण स्थान है, उनके द्वारा प्रणीत कामन्दक नीति राजशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों को लिए हुए है। कामन्दकनीति को सर्गों में विभक्त किया गया है, इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में 19 सर्ग है, जिनमें 1163 छन्द (श्लोक) हैं। हालांकि इस ग्रन्थ के रचनाकाल का भी पूर्ण प्रमाण नहीं मिलता। कामन्दक का जन्म कब हुआ और इन्होंने कब इस ग्रन्थ की रचना की, इस विषय में पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। कुछ विद्वान इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीक मानते हैं। परन्तु इसके लिए भी पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। डॉ० सदाशिव अलतेकर के अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल 500 ई० के आस–पास है।

इस ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अनेक आचार्यों यथा – मनु, बृहस्पति, इन्द्र, उशना, मय, विशालाक्ष, बहुदन्ती पुत्र, पराशर, कौटिल्य आदि के नाम प्राप्त होते हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि निश्चित रूप से इनका काल इन सब आचार्यों के पश्चात का रहा है। कामन्दक ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में नन्दवंश का नाश करने वाले एवं मौर्य साम्राज्य के संस्थापक तथा अर्थशास्त्र के प्रणेता को अपना गुरू मानते हुए नमस्कार किया है। जहाँ इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ के निर्माण हेतु इन्होंने अर्थशास्त्र का आश्रय लिया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि कामन्दक ने कौटिल्य की शिष्य परम्परा का निर्वाह किया। कामन्दक ने इस ग्रन्थ की रचना इसलिए भी की, क्योंकि उन्हें कौटिल्य की विचारधारा में कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन करने की आवश्यकता लगी। कौटिल्य–कालीन कुछ मान्यताएँ उपयोगी हो चुकी थी। इसलिए इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए नीति ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। इस आधार पर कामन्दक का समय कौटिल्य से काफी पश्चात् हुआ।

सोमदेव सूरी (10वीं सदी) ने अपनी कृति नीतिवाक्यमृत में कहा है– सुदूर होने पर भी माधव के पिता ने कामन्दकीय प्रयोग द्वारा मालती को माधव के लिए साध लिया था। इससे स्पष्ट है कि कामन्दनीति की रचना मालतीमाधव नाटक की रचना से बहुत पहले हो चुकी थी। मालतीमाधव भवभूति रचित है। अतः कामन्दक का उदय भवभूति से बहुत पहले का है।

दण्डी रचित दशकुमारचरित में भी कामन्दकनीति का उल्लेख है तथा दण्डी का समय आठवीं शताब्दी के आस–पास का माना जाता है। इस आधार पर कामन्दक आठवीं शताब्दी के पूर्व हुए। शुक्रनीति में भी काम नीति का वर्णन मिलता है तथा उसमें अनेक श्लोक ज्यों–के–त्यों रखे गए। इससे भी स्पष्ट होता है कि शुक्रनीति से पूर्व कामन्दकनीति की रचना हो चुकी थी। अग्निपुराण तथा मत्स्यपुराण में भी कामन्दकनीति के अनेक श्लोक मिलते हैं इस सब आधारों पर यह उत्तरगुप्त काल की रचना अर्थात् इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कामन्दक भी पूर्व गुप्तकालीन राजशास्त्र प्रणेता रहे हैं।

कामन्दक कौटिल्य से इतने प्रभावित रहे है कि इन्होंने अनेक जगह उनकी शब्दावली को ज्यों की त्यों उठाकर रखा है, इस कारण अनेक विद्वान इस रचना को अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप भी मानते हैं। बहुत–सा अंश अर्थशास्त्र के आधार पर होने पर भी इस ग्रन्थ का अपना महत्व है। कामन्दक ने अनेक राजमण्डलों के निर्माण का वर्णन किया है। उन्होंने शत्रु से संधि करने के अनेक भेदों को बताया है, जो उन्होंने अर्थशास्त्र पर आधारित नहीं बताए अपितु अपनी सूझ–बूझ पर किए है। इन्होंने षाड्गुण्य को अलग–अलग करके उसकी व्याख्या करते हुए नया रूप प्रदान कर दिया है।

कामन्दक ने राजा की सफलता के लिए सात उपायों का आश्रय लिया है। उन्होंने पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को विद्या माना है, जिसके लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्ड इन चारों का सहारा लिया है। कामन्दक के अनुसार मानव प्रकृति काम, क्रोध, लोभ आदि इन्द्रियों से प्रभावित है, जिस पर नियन्त्रण के लिए दण्ड का प्रयोग ही एक मात्र साधन है।

प्राचीन राजनीतिज्ञों के अनुसार ही कामन्दक ने राजा के लिए पाँच प्रकृतियाँ अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड बताई है। वहीं बृहस्पति ने सप्तात्मक राज्य माना है। उनके अनुसार राज्य की सात प्रकृतियाँ अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड, मित्र और राजा की है। इस प्रकार कामन्दक में तत्कालीन राज शासन व्यवस्था को कामन्दकनीति के माध्यम से बताया है, जो कि नीतिशास्त्र का अमूल्य रत्न है।

14.4 राज्य–व्यवस्था का महत्व

संस्कृत साहित्य में भारतीय सामाजिक संस्थानों का वर्णन अनेक रूप से प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य तक राज्य व्यवस्था का स्वरूप विस्तार पूर्वक पढ़ा जा सकता है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि बताया गया है तथा उसका अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार होता है। राज्य व्यवस्था संबंधी सिद्धांतों के द्वारा राजा अपने राज्य का विस्तार करता है तथा अपनी प्रजा को सुखी और सम्पन्न बनाता है। राज्य का विस्तार और राज्य की सुरक्षा राजा द्वारा किये जाने वाले चतुर्विध उपायों और त्रिविध शक्तियों के माध्यम से करता है। अतः प्राचीन शास्त्रों में वर्णित राज्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है।

14.5 सारांश

भारतीय सामाजिक संस्थान जीवन की पद्धति के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हमारे शास्त्रों में सामाजिक संस्थानों का वर्णन वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक प्राप्त होता है। मनुस्मृति, कामन्कीय नीति, नीतिवाक्यामृत और गांधी–गीता में वर्णित भारतीय राजतंत्र के विषय में अध्ययन करके वर्तमान राजनीति को समझा जा सकता है। राजा अपने राज्य की सीमा का विस्तार तथा राज्य की स्थिरता षाड्गुण्य सिद्धांत के द्वारा कर सकता है। स्पष्टतः भारतीय राज्य व्यवस्था में सप्तांग सिद्धांत, मण्डल सिद्धांत और त्रिविध शक्तियों के माध्यम से प्राचीन भारतीय राजतंत्र को समझा जा सकता है।

14.7 बोध प्रश्न/ अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कामन्दकीय नीति किसकी रचना है।
2. शुक्राचार्य की रचना का नाम बताए।
3. गांधी–गीता किसकी रचना है।
4. नीतिवाक्यामृत के रचयिता का नाम बताए।

उत्तर 1. कामन्दक 2. शुक्रनीति 3. महात्मा गांधी 4. सोमदेव सूरी

अभ्यास प्रश्न

1. दण्डनीति के विषय और प्रयोजन को स्पष्ट करें।
2. षाड्गुण्य सिद्धांत का क्या महत्व है? स्पष्ट करें।
3. कामन्दक अथवा शुक्रनीति पर अपने विचार लिखें।
4. पुरुषार्थ चतुष्टयः का क्या महत्व है? वर्णन करें।

उपयुर्क्त प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वंय करें।

14.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- प्रसाद, एन, 2010 प्राचीन भारत में कर और दंड विधान, पहला संस्करण,नई दिल्ली त्रिवेणी प्रकाशन.
- महावीर, 2014. वेदों में आर्थिक चिन्तन, पहला संस्करण, नई दिल्ली प्रगतिशील प्रकाशन.
- कोसंबी, डी.डी. (1987)। ऐतिहासिक में प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता खाका। नई दिल्ली
- थापर, रोमिला (2002)। प्रारंभिक भारत का पेंगुइन इतिहास। मूल से . तक ई. 1300. नई दिल्ली। पेंगुइन बुक्स।
- बाशम, ए.एल. (1986)। वह आश्चर्य जो भारत था। नई दिल्ली।
- एच. सी. रायचौधरी, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, (revised and edited) कमेंट्री के साथ बी.एन मुखर्जी, 1996।
- अग्निपुराण, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण–2003।
- मनुस्मृति, कुल्लकभट्ट टीका व मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या, संपा.–पं. गोपालशास्त्री।

नेने, व्या.–पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित, 2006.

- धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरंग वामन काणे, हिन्दी अनुवाद अर्जुन चौबे कश्यप, पाँच भाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1963
- याज्ञवल्क्य स्मृति, संपा.–नारायण राम आचार्य, नाग पब्लिशर्स, प्र.सं.– 1985
- कामन्दकीयनीतिसार, आनन्दश्रम, पूणे, 1982
- कौटिल्य–अर्थशास्त्र, सं.–श्री भारतीय योगी, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1995
- कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएँ, कमलेश अग्रवाल, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली 2001
- गाँधी गीता अथवा असहयोग, प्रो. इन्द्र, राजहंस प्रकाशन, दिल्ली, 1949
- नीतिवाक्यामृतम, श्री सोमदेवसूरिविरचितम्, व्या.–रामचन्द्र मालवीय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1972
- वैदिक अध्ययन, शशि तिवारी, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2004।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 15 भारतीय राजतंत्र के महत्वपूर्ण विचारक व विचार – शुक्राचार्य (शुक्रनीति प्रथम अध्याय 1–20), सोमदेवसूरी (नीतिवाक्यामृत द.स.–9,ज.स.19/1–10) और महात्मा गाँधी, इन्द्र (रचित गाँधी गीता–पंचम अध्याय 1–25)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारतीय राजतंत्र का परिचय

15.3 भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारक

15.3.1 शुक्राचार्य, (शुक्रनीति प्रथम अध्याय 1–20)

15.3.2 सोमदेवसूरी (नीतिवाक्यामृत द.स.–9,ज.स.19/1–10)

15.3.3 महात्मा गाँधी, (रचित गाँधी गीता–पंचम अध्याय 1–25)

15.5 भारतीय राजतंत्र का महत्त्व

15.4 सारांश

15.5 बोध प्रश्न/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारतीय राजतंत्र के बारे में जानेंगे।
- भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारकों यथा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के विचारकों का अध्ययन करेंगे।
- शुक्राचार्य के व्यक्तित्व व कृतित्व का अध्ययन करेंगे।
- सोमदेव सूरी द्वारा रचित नीतिवाक्यामृत के प्रमुख श्लोकों का अध्ययन करेंगे।
- महात्मा गांधी द्वारा रचित गांधी–गीता के बारे में जानेंगे।

15.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए संस्कृत ग्रंथों मे वर्णित राज्य व्यवस्था का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। इसके लिए शुक्राचार्य, सोमदेव सूरी और महात्मा गांधी के विचारों को जानना भी बहुत महत्वपूर्ण है। जिससे अध्ययनकर्ता प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को समझने में सहायक होंगे। भारतीय राजतंत्र के महत्वपूर्ण विचारकों की रचनाओं के द्वारा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन और उसका विश्लेषण किया जा सकता है। इस इकाई में शुक्रनीति, नीतिवाक्यामृत और गांधी–गीता के प्रमुख उद्धरणों को लिया गया है।

15.2 भारतीय राजतंत्र

राजतंत्र के उद्‌भव और विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राज्य तंत्रीय विषयों की विषद चर्चा करने वाले आचार्यों की एक लंबी परंपरा है। कुछ प्राचीन विचारकों ने स्वतंत्र रूप से राजतंत्र के ग्रंथों की रचना की तो कुछ ने किसी विशाल ग्रंथ के अंतर्गत ही इससे संबंधित विषयों पर अपने विचार प्रकट किये यथा – प्राचीन भारतीय राजतंत्र वंशानुगत परम्परा विद्यमान थी जहाँ राजपुत्रों की योग्यता की भी परीक्षा लेकर उत्तराधिकारी को राज्यपद देने का अधिक महत्व था। गणतंत्र या प्रजातंत्र में सार्वभौम सत्ता का अभाव था। इस युग के प्रमुख गणराज्य शाक्य, भाग, लिच्छवी और विदेह आदि हैं जिनका उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है जो स्वतंत्र रूप से प्रजातंत्र को अपनाये हुए थे। बौद्धकालीन समय में यह संस्था राजतंत्र में बदलने लगी थी क्योंकि गणराज्य एकत्र होकर नहीं रह पा रहे थे। इसलिए भारतीय राजतंत्र में यह परिवर्तन स्वाभाविक रूप से विद्यमान था। प्रथम कोटि के आचार्यों में आचार्य कौटिल्य, आचार्य शुक्राचार्य और सोमदेव सूरी का नाम महत्वपूर्ण है तो इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए भीष्मपितामह और आचार्य मनु का मौलिक योगदान महत्वपूर्ण है। भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारकों में आचार्य कौटिल्य का नाम सबसे महत्वपूर्ण माना गया है।

15.3 भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण विचारक : शुक्राचार्य, सोमदेव सूरी और महात्मा गाँधी

15.3.1 शुक्राचार्य

भारतीय राजतंत्र के महत्वपूर्ण विचारकों के रूप में शुक्राचार्य का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय साहित्य के लगभग सभी ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में शुक्राचार्य का उल्लेख हुआ है। शुक्राचार्य के पर्यायवाची नाम उशना, काव्य, भार्गव और कवि आदि हैं। शुक्राचार्य के पश्चात् भी ज्ञान–प्रसार के अनेक कार्य हुए हैं, जिनका राजशास्त्र साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान रहा । परन्तु इन्होंने अपने कार्यों का श्रेय मान शुक्राचार्य को दिया है। वर्तमान में शुक्राचार्य का एकमात्र ग्रन्थ शुक्रनीति उपलब्ध होती है, जहाँ राजशास्त्र संबंधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। जनश्रुति के आधार पर शुक्राचार्य के ही अन्य नाम उशना, भार्गव, कवि, योगाचार्य और दैत्य गुरु है, परन्तु यदि यह सत्य है तो उन्हें वैदिक ऋषि मानना चाहिए क्योंकि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में उशना ऋषि का नाम मिलता है। इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद में भी उशना, काव्य, भार्गव आदि ऋषियों के मंत्र मिलते हैं। अर्थवेद में ही कई मंत्रों का ऋषि शुक्र को बताया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद में इनका नाम शुक्र नहीं प्राप्त होता, परन्तु अन्य नाम तो प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से ये ऋषि वैदिक ऋषि हैं।

महाभारत में भी शुक्राचार्य को उपर्युक्त नामों से ग्रहण किया गया है। स्वयं कृष्ण गीता का उपेदश देते हुए कहते हैं– कवियों में उशना हूँ। शान्ति पर्व में उशना को दण्डनीति का प्रमुख आचार्य कहा गया है। आदि पर्व में देवासुर संग्राम के अवसर पर देवों ने बृहस्पति का तथा दैत्यों ने उशना का अपनी विजय के लिए पुरोहित के रूप में चयन किया। कौटिल्य के अनुसार उशना राजशास्त्र के प्रमुख प्रवर्तक रहे हैं, जिन्होंने आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति ये चार विद्याएँ मानी है, अतः उशना दण्डनीति के सुप्रसिद्ध आचार्य हुए हैं।

इस आधार पर शुक्र बहुत प्राचीन ऋषि रहे हैं, परन्तु उनके द्वारा लिखित शुक्रनीति ग्रन्थ जो वर्तमान में प्राप्त होता है, वह इतना पुराना नहीं है कि उसे वैदिक काल की रचना मानी जाए। अगर इस विषय में विचार किया जाए तो दो मत हो सकते हैं–

1. इस शुक्रनीति के प्रणेता वे शुक्राचार्य नहीं हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रणेता कोई अन्य ही रहे हैं, जिन्होंने शुक्राचार्य को समर्पित करते हुए शुक्राचार्य का नामोल्लेख यहाँ किया है। वे उनके नाम से इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि चाहते थे या इस ग्रन्थ के रचयिता शुक्र ही रहे होंगे, जो उशना तथा शुक्र से भिन्न व्यक्ति हैं। क्योंकि एक ही नाम के अनेक व्यक्ति हो सकते हैं।
2. दूसरा मत भारत की प्राचीन गुरू–शिष्य परम्परा का प्रचलन माना जा सकता है। क्योंकि तत्कालीन समय में राजशास्त्र के अनेक विचार विद्वान थे, जिनमें प्रत्येक का प्रवर्तक कोई वैदिक ऋषि रहा है। यही विचारधारा गुरू शिष्य परम्परा से प्रवाहित होते हुए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समय–समय पर संशोधित होती गई और किसी एक काल के बंधन में न रहकर समयानुसार परिवर्धन को प्राप्त हुई और इसका श्रेय शिष्यों ने अपने श्रेष्ठतम गुरू को ही दिया। इसी कारण यह पता लगाना बहुत मुश्किल हो रहा है कि ये सिद्धान्त किस शिष्य के हैं क्योंकि उन्होंने अपने सम्पूर्ण समर्पण के साथ इन्हें गुरू को अर्पित कर दिया। यही सिद्धान्त इस शुक्रनीति में शुक्र की विचारधारा का एकमात्र ग्रन्थ के रूप में हमारे सामने आया है। अतः यह विचारधारा उशना या शुक्राचार्य से चलती हुई जनता के सामने आई, जिसे समय के साथ चिरस्थाई रखने के लिए इसके अनुयायियों ने इन विचारों को संशोधित करते हुए लिपिबद्ध किया। यह भी संभव है कि जिस प्रकार पहले गुरू–शिष्य परम्परा मौखिक ही होती थी, परन्तु बाद के साहित्य में इसको लिपिबद्ध होने के साक्ष्यों के अनुसार शुक्रनीति ने भी इसी प्रवाह का पालन किया हो। क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ में लेखक ने किसी भी प्रसङ्ग में ऐसा विषय नहीं रखा, जिससे यह पता चले कि यह कृति वैदिक ऋषि की न होकर किसी व्यक्ति की है। अतः संकलनकर्ता ने बड़ी चतुराई से संकलनकर्ता का नाम गुप्त रखा है।

शुक्रनीति रचनाकाल :

शुक्राचार्य के काल के विषय में जानने का एकमात्र साधन उनकी शुक्रनीति ही है अर्थात् इस ग्रन्थ में उपलब्ध सामग्री, स्थान आदि विषयों का अन्वेषण व विश्लेषण करने पर ही इसके रचनाकाल का ज्ञान हो सकता है।

शुक्रनीति ने भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार वर्णव्यवस्था का पूर्णतया विकास हो चुका था तथा लोग विभिन्न व्यवसाय अपनाने लगे थे। इस प्रकार जाति प्रथा भी जड़े जमा चुकी थी। लोगों का खान–पान, विवाह, विचार सम्बन्धी कठोर नियम समाज में बन चुके थे। शूद्र और नारी दोनों को स्वामी के आश्रित माना जाने लगा था। ब्राह्मण धर्म से सम्बधित प्रथाएं प्रगाढ़ हो गई थीं तथा मूर्तिकला का भी विकास हो चुका था। अतः यह सब चित्र गुप्तकालीन समाज को चित्रित करते हैं, जो वैदिक समय के नहीं हैं। क्योंकि गुप्तकाल से पूर्व चित्रकला पूर्णतया विकसित नहीं थी, परन्तु गुप्तकाल में इसका विकसित रूप देखने को मिलता है। अतः निश्चित ही शुक्राचार्य गुप्तकाल में राजशास्त्र के प्रणेता रहे हैं। शुक्रनीति में ऐसी संस्थाओं की भी चर्चा है, जो हर्ष की मृत्यु के पश्चात समाप्त हो गई थी, जैसे – कुल, श्रेणी, गण आदि। अतः शुक्राचार्य हर्ष से पूर्व रहे होंगे तथा हर्ष से पूर्व भी गुप्त काल ही था।

इस ग्रन्थ में अनेक श्लोक ऐसे भी हैं, जो गुप्तकाल से बाद के हैं। जिन्हें निश्चित रूप से बाद में जोड़ा गया है। जिन्हें पृथक नहीं किया जा सकता, परन्तु निश्चित ही यह कार्य इस ग्रन्थ के आकार में वृद्धि हेतु किया गया। साथ ही इन आधारों पर इसके काल को भटकाया नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से यह स्वयं गुप्त काल की ही है। इन्हीं आधारों को परिणाम रूप में लेकर डॉ० अलतेकर ने 800 ई. से 1200 ई०, डॉ० घोष ने 1200 ई. से 1600 ई०, डॉ० जायसवाल ने इसे चौथी से पाँचवी शताब्दी के बीच की रचना स्वीकार की है। अतः यह रचना गुप्तकाल ही है।

शुक्रनीति : वर्तमान में प्राप्त शुक्रनीति में 2200 श्लोक होने के विषय में कहा गया है– **''द्वाविंशतिशतं श्लोका नीतिसारे प्रकीर्तिता।''**

परन्तु वर्तमान में प्राप्त संस्करण में 2454 श्लोक मिलते हैं, जो पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम दो अध्यायों में राजा का स्वरूप, उसके कर्तव्य, मंत्री, युवराज आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय में नीतिशास्त्र का विवेचन करते हुए राजा तथा प्रजा के बीच सामंजस्य को बताया गया है। चतुर्थ अध्याय में राजधर्म, दुर्ग, सेना, मित्र, कोश, विद्या आदि का वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय को परिशिष्ट रूप में जोड़ा गया है, जहाँ राज्य के अंग आदि विषयों की चर्चा हुई है। शुक्र का मानना था कि राज्य सात अवयवों के संयोग से बना है, जो कि स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल हैं अर्थात् ये भी भीष्म और कौटिल्य की राज्य विषयक अवधारणाओं को लिए हुए हैं। शुक्र राजा को दैवी पदान देकर उसे तम, रज और सत के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं। यहाँ तमोगुण प्रधान राजा को राक्षसधारी, रजो गुण युक्त राजा मानव वशंधारी तथा सतोगुण प्रधान राजा को देवकोटि में परिगणित किए हैं।

शुक्र ने राजा के कर्तव्य, उसकी नियुक्ति, वैदिक अधिकार के सिद्धान्त, ज्येष्ठता, शारीरिक परिपूर्णता, चारित्रिक योग्यता, प्रजा अनुमति राज्याभिषेक सिद्धान्तों के साथ मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता, सदस्य योग्यता तथा राजकर्मचारियों की नियुक्ति के सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित किया है। इसके साथ–साथ राज्य की आय के साधन, कोश–व्यय के मार्ग, कोश का संग्रह करने की व्यवस्था के साथ न्याय व्यवस्था पर भी बल दिया है। सैन्य बल, सैन्य संगठन, सेना के अंग को बताते हुए, युद्ध के अनेक प्रकार बताएँ हैं, यथा–दैविक युद्ध, आसुर युद्ध, मानव युद्ध, शास्त्र युद्ध, बाहु युद्ध, धर्म युद्ध, कूट युद्ध आदि विषयों का उल्लेख किया है। इस प्रकार शुक्र ने राज्य शासन की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है– **'नयनात् नीतिरूच्यते'** अर्थात् जो धर्म की ओर ले जाए वही नीति है।

शुक्राचार्य (शुक्रनीति प्रथम अध्याय 1–20)

सर्वप्रथम शुक्राचार्य का नाम अथर्ववेद में प्राप्त होता है, महाभारत में भी शुक्र को उशना, काव्यः, कवि, भार्गव, योगाचार्य, दैत्यगुरु आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। हालांकि वर्तमान में जो शुक्राचार्य का ग्रन्थ उपलब्ध है, वह वैदिक काल की रचना नहीं मानी जा सकती। यह हो सकता है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता कोई अन्य व्यक्ति रहा हो, जिन्होंने शुक्रचार्य को समर्पित करके इस ग्रन्थ का नामकरण शुक्रनीति रखा अथवा यह भी हो सकता है कि भारत की गुरु–शिष्य परम्परा के अन्तर्गत राजशास्त्र की इस धारा का प्रवाह हुआ हो, जिसका प्रथम संकलन शुक्राचार्य ने किया और बाद में आवश्यकतानुसार इसमें संशोधन होते गए हो।

शुक्रनीति ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत करती है, जहाँ वर्णव्यवस्था जाति व्यवस्था में बदल चुकी थी। जहाँ आचार–विचार, खान–पान, विवाह स्वरूप आदि के भी कठोर नियम बन चुके थे तथा इसमें निहित राजशास्त्र संबंधी जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह निश्चित रूप से गुप्तकालीन है। इस आधार पर इस ग्रन्थ के रचयिता को गुप्तकालीन राजशास्त्र विचारक माना जाता है।

शुक्रनीति में प्राप्त होने वाले राजनीतिक विचार आज भी किसी भी शासन व्यवस्था का आदर्श रूप प्रकट करते हैं, जहाँ राज्य की शासन व्यवस्था के लिए विभिन्न प्रकार के नीति विषयक निर्देश दिए गए हैं, जो राजा तथा प्रजा दोनों के कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार नीतिशास्त्र संबंधी अनेक विचार यथा राज्यांग, मंत्रिपरिषद्, चतुष्ट्य उपाय, नियुक्तियाँ, सेना, कोश, बल आदि विषयों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

प्रणम्य जगदाधारं सर्गस्थित्यन्तकारणम्।
सम्पूज्य भार्गवः पृश्टो वन्दित पूजितः स्तुतः ।।1।।

पूर्वकाल में विद्वानों ने शुक्राचार्य की पूजा, वन्दना, स्तुति करके (सृष्टि विषय में) पूछा (तब) शुक्राचार्य ने भी जगत के (और सृष्टि रचना के मूल कारण) अर्थात् परमेश्वर को प्रणाम करके कहा।

पूर्वदेवैर्यथान्यायं नीतिसारमुवाच तान्।
षतलक्षष्लोकमितं नीतिषास्त्रमथोक्तवान्।। 2।।

उन्होंने (शुक्राचार्य ने) न्याय के अनुसार (क्रम पूर्वक) नीतिशास्त्र का उन विद्वानों को उपदेश दिया। उस उपदेशात्मक नीतिशास्त्र के श्लोकों की संख्या एक करोड़ के लगभग थी।

स्वयभ्भूर्भगवाँल्लोकहितार्थं सड्.ग्रहेण वै।
तत्सारं तु वसिश्ठाद्यैरस्माभिर्वृद्धिहेतवे।। 3।।

भगवान् स्वयंभू ब्रह्या द्वारा संकलित उन नीति श्लोकों को हम वसिष्ठादि ऋषियों ने लोककल्याण के लिए संक्षिप्त रूप से संकलित किया।

अल्पायुर्भूदाद्यर्थं सड्.क्षिप्तं तर्कविस्तृतम्।
क्रियैकदेषबोधीनि षास्त्रण्यन्यानि सन्ति हि।।4।।

आधुनिक अल्पायु राजा के लिए भी ये वैसे ही काम्य हैं तथा संक्षिप्त होते हुए सारगर्भित एवं तर्कयुक्त हैं। (नीतिशास्त्र को छोड़कर) अन्य शास्त्र की हैं, परन्तु उनमें (व्यवहारिक जगत्) किसी एक ही भाग का वर्णन है।

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिषास्त्रकम्
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।। 5।।

नीतिशास्त्र में लोकव्यवहार जगत् के साथ सार्वजनिक हित एवं सामाजिक सुरक्षा का समावेश है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक है।

अतः सदानीतिषास्त्रभ्यसेद्यत्नतो नृपः।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याष्च षत्रुज्लिोकरंजकाः।। 6।।

इसलिए राजा को सदैव प्रयासपूर्वक नीतिशास्त्र का अनुशीलन करना चाहिए। इसकी जानकारी से राजनैतिक प्रतिद्वन्दियों को पराजित कर लोकप्रियता प्राप्त की जा सकती है।

सुनीतिकुषला नित्यं प्रभवन्ति च भूमिपाः।
शब्दार्थानां न किं ज्ञानं विना व्याकरणाम्दवेत्।। 7।।

इसी शास्त्र की जानकारी से राजा सुनीति में निपुण होते हैं। क्या व्याकरणशास्त्र की जानकारी के बिना अर्थ ज्ञान नहीं होता? अर्थात् होता है।

प्राकृतानां पदार्थानां न्यायकैर्विना न किम्।
विधिक्रियाव्यवस्थानां न किं मीमांसया विना।। 8।।

न्याय और तर्कशास्त्र के बिना क्या प्राकृत पदार्थों का ज्ञान नहीं होता? अर्थात् होता है। क्या इसी तरह विधि की क्रिया अर्थात् कर्मकाण्ड का ज्ञान मीमांसाशास्त्र के बिना नहीं होता? अर्थात् होता है।

छेहादीनां नष्वरत्वं वेदान्तैर्न बिना ही किम्।
स्वस्याभिमतबोधीनि षास्त्रण्येतानि सन्ति हि।। 9।।

छेहादि समस्त सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान क्या वेदान्तशास्त्र बिना नहीं हो सकता? ये सभी शास्त्र अपने–अपने मत या सम्प्रदाय की ही स्थापना करते हैं।

तत्तन्मतानुगैः सर्वैर्विधृतानि जनैः सदा।
बुद्धिकौषलमेतद्धि तैः किं स्याद् व्यवहारिणाम्।।10।।

इन समुदायों के अनुयायी ही इन पूर्वोक्ति शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। बुद्धिचातुर्य के अतिरिक्त व्यवहारिक जगत् में भला इन शास्त्रों के अध्ययन से क्या लाभ हो सकता है?

सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि।
यथाऽषनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम्।। 11।।

भोजन के बिना प्राणियों की देह का अस्तित्व नहीं रह सकता, उसी प्रकार लोकव्यवहार का अस्तित्व नीतिशास्त्र के ज्ञान बिना टिक नहीं सकता।

सर्वाभीश्टकरं नीतिषास्त्रं स्यात्सर्वसम्मतम्।
अत्यावष्यं नृपस्यापि स सर्वेशां प्रभुर्यतः।। 12।।

नीतिविद्या सभी मनुष्यों को मनचाही वस्तु को देने वाली है, जिसे सब जानते हैं। यह राजा की जानकारी के लिए आवश्यक है, क्योंकि वह तो लोगों का स्वामी है।

षत्रवो नीतिहीनानां यथाऽपथ्याषिनां गदाः।
सद्यः कोचिच्च कालेन भवन्ति न भवन्ति च।। 13।।

नीतिहीन राजा के शत्रु इस तरह खड़े हो जाते है, जैसे अस्वस्थ भोजन करने वाले मनुष्य को रोग तत्काल उत्पन्न हो जाते है। जिससे वह रोगी या राजा जीवित नहीं रह सकता।

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
दुश्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्याऽतो विना ह्युभे।। 14।।

राजा का परम धर्म प्रजा का पालन और दुष्टों का निग्रह (नाश) करना है। ये दोनों कार्य बिना नीतिशास्त्र के अध्ययन के सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसलिए नीतिशास्त्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए या पालन करना चाहिए।

अनीतिरेव सच्छिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम्।
षत्रुसंवर्धनं प्रोक्तं बलह्रासकरं महत्।। 15।।

नीतिशास्त्र के विरुद्ध व्यवहार करना राजा का सबसे बड़ा भयजनक छिद्र है। यह शत्रु को बढ़ाने वाला और अपने बल का महान नाश करने वाला माना गया है।

नीतिं त्यक्तवा वर्त्तते यः स्वतन्त्रः स हि दुःखभाक्।
स्वतन्त्रप्रभुसेवा तु ह्यसिधारावलेहनम्।। 16।।

नीतिविहीन स्वेच्छारी राजा पग–पग पर दुख झेलता है। उसकी सेवा करना निश्चित रूप से तलवार की धार चाटने के समान कष्टप्रद होता है।

स्वाराध्यो नीतिमान् राजा दुराराध्यस्त्वनीतिमान्।
यत्र नीतिबले चोभे तत्र श्रीस्सर्वतोमुखी।। 17।।

नीतिमान राजा सहज सेव्य होता है। किन्तु जो राजा नीतिज्ञ नहीं है उसे संतुष्ट या खुश करना कठिन होता है। जिनके पास नीति और बल दोनों है उसके पास लक्ष्मी अपने आप चारों ओर से आ जाती है।

अप्रेरितहितकरं सर्वराष्ट्रं भवेद्यथा।
तथा नीतिस्तु सन्धार्या नृपेणात्महिताय वै।।18।।

जिस नीति से राजा से किसी तरह के प्रोत्साहन को पाए बिना संपूर्ण प्रजामंडल आत्महित की बात करें तो राजा को भी अपने हित के लिए वही नीति अपनानी चाहिए।

भिन्नं राष्ट्रं बलं भिन्नं भिन्नोऽमात्यादिको गणः।
अकौषल्यं नृपस्यैतदनीतेर्यस्य सर्वदा।। 19।।

किसी राजा की अनीति और अकुशलता के कारण ही उसके राष्ट्र में अलगाव उत्पन्न होता है। उसके सैन्य बल में फूट पैदा होती है। उसके मंत्रिमंडल में मत भिन्नता होती है।

तपसा तेज आदत्ते षास्ता पाता च रञ्जकः।
नृपः स्वप्राक्तनाद्धत्ते तपसा च महीमिमाम्।। 20।।

कोई राजा अपने तपोबल के कारण ही तेजस्वी, शासक, प्रजापालक एवं प्रजा के लिए अह्लादक होता है। अपने पूर्वजन्म से अर्जित तप के प्रभाव से ही इस धरती का पालनकर्ता होता है।

15.3.2 सोमदेव सूरी

सोमदेवसूरी जैन धर्म को मानते थे। उनके ग्रन्थ यशस्तिलक चम्पू से ज्ञात होता है कि ये कान्यकुब्ज–नरेश, महेन्द्र देव या महेन्द्र पाल देव के दरबार में थे। इसी चम्पू में इन्हें देव संघ का आचार्य कहा गया है। इनके गुरु का नाम नेमिदेव था, जो कि

यशोदेव के शिष्य थे। जनश्रुति के अनुसार इन्होंने नीतिवाक्यामृत की रचना महेन्द्र देव की प्रेरणा से ही की। महेन्द्र देव ने स्वयं कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था, तब उनकी विशालता को देखते हुए इसे सरल, सुबोध और संक्षिप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने यह कार्य सोमदेव सूरि को सौंपा। अतः अगर यह कहा जाए कि नीतिवाक्यामृत महेन्द्रपाल की प्रेरणा का फल है, तो किञ्चित गलत नहीं होगा।

परन्तु इस विषय में कुछ विद्वान आपत्ति करते हैं कि यह महेन्द्रपाल की प्रेरणा से लिखा गया ग्रन्थ है, इसके लिए सबसे पहला तर्क दिया जाता है कि महेन्द्रपाल का समय 960–964 विक्रमी संवत तक का है, परन्तु यशस्तिलकचम्पू का रचनाकाल पचास वर्ष बाद है। अगर नीतिवाक्यामृत की रचना यशस्तिलक के पश्चात की गई तो इसका अभिप्राय है कि यह रचना महेन्द्रपाल के समय की नहीं है तथा इस ग्रन्थ में भी कहीं पर महेन्द्रपाल का संकेत नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ को कौटिल्य अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप भी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार इस ग्रन्थ का अपना विषय, विशेषताएँ और उपयोगिताएँ हैं। इन आधारों पर यह नहीं स्वीकारा जाता कि यह उसका संक्षिप्त रूप तथा महेन्द्रपाल की प्रेरणा का फल है।

काल : नीतिवाक्यामृत में निहित कुछ संकेतों के आधार पर सोमदेव के काल का निर्धारण किया जाता है, यथा– इन्होंने विष्णुगुप्त, कामन्दक का उल्लेख अपनी रचना में किया है, इस आधार पर यह ग्रन्थ उनके बाद का मानना है। नीतिवाक्यामृत में कहा है कि – ''विष्णुगुप्त के अनग्रह नदी चन्द्रगुप्त को साम्राज्य की प्राप्ति हुई थी। एक अन्य स्थान पर ''नन्दवंश का नाश चाणक्य ने अपनी तीक्ष्ण दूत प्रयोग के द्वारा किया।'' अतः सोमदेव अर्थशास्त्र से परिचित थे। इसी प्रकार एक जगह कहा है कि– "माधव के पिता ने कामन्दकीय प्रयोग द्वारा माधव के लिए मालती को साध लिया।" अतः वे कामन्दक से भी परिचित थे।

यशस्तिलक महाकाव्य की सूची में राजशेखर को अन्तिम महाकवि कहा है अर्थात् उस समय राजशेखर भी लोकप्रसिद्ध हो चुके थे। राजशेखर महेन्द्रपालदेव के राजकवि रहे हैं तथा महेन्द्रपाल का समय 960–964 विक्रम संवत है, इसके लगभग पचास वर्ष पश्चात् 1014 विक्रमी संवत के आस–पास यशस्तिलकचम्पू की रचना हुई तथा यही समय सोमदेव का माना जाता है अर्थात् 11वीं शदी का पूर्वार्द्ध।

'नीतिवाक्यामृत' 32 समुद्देश या अध्यायों में विभक्त है, जहाँ 1550 सूत्रों का समावेश है। इस ग्रन्थ में सोमदेव के समय के नीति साहित्य को इसकी विषयवस्तु बताया गया है, हालांकि इसमें कुछ सूत्र अर्थशास्त्र से ग्रहण किए गए हैं क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि अर्थशास्त्र के समान हो रही है। यहाँ पर नीति संबंधी बातों का समावेश होने के कारण इसका नामकरण 'नीतिवाक्यामृत' रखा गया है। इस ग्रन्थ में अपने से प्राचीन, यथा–मनु, बृहस्पति, पराशर, विशालाक्ष, शुक्र, भारद्वाज, भीम, कौटिल्य, कामन्दक आदि का भी संकेत किया है। इसमें छोटे–छोटे वाक्यों अथवा सूत्रों के माध्यम से सम्पूर्ण विषय को समुद्देशों के माध्यम से रखा है। जहाँ समुद्देश विषयानुकूल ही छोटे या बड़े हैं। यहाँ सबसे छोटे समुद्देश में सात और सबसे बड़े समुद्देश में 171 सूत्र हैं, जो क्रमशः दण्डनीति समुद्देश तथा मंत्रिसमुद्देश है।

अतः इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में ही लोक व्यवहार से लेकर राजनीति के गूढ़ सिद्धान्तों तक को ग्रहण किया गया है। यहाँ धर्म, अर्थ, काम, विद्या, दण्ड, विचार, व्यसन, स्वामी, सेना, दूत, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, बल, मित्र, राजा, प्रजा, सदाचार, विवाह, व्यवहार, युद्ध आदि विषयों को नीति–वाक्यों' से साधारण जन के लिए भी ग्रहण योग्य

बना दिया है। अतः इस ग्रन्थ का नामकरण इसी आधार पर नीतिवाक्यामृत रखा. जिसके लिए उन्होंने अपने से पहले के नीतिपरक शास्त्रों का गहन अध्ययन करते हुए आवश्यकतानुरूप गूढ़ सिद्धान्तों को यहाँ स्थान देकर, गागर में सागर भरने की कहावत को चरितार्थ किया है।

सोमदेवसूरी (नीतिवाक्यामृत द.स.–9,ज.स.19/1–10)

'नीतिवाक्यामृत' से स्पष्टतया नहीं पता चलता की यह किसकी रचना है, परन्तु इसके अन्त में दी गई प्रशस्ति से पता चलता है कि इस ग्रन्थ के रचनाकार इससे पहले एक और ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू की रचना कर चुके हैं तथा यशस्तिलकचम्पू काव्य सोमदेव सूरि रचित है, इस आधार पर पता चलता है कि सोमदेव सूरि रचित दो ग्रन्थ हैं– 'नीतिवाक्यामृत' तथा यशस्तिलकम्पू।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति के आधार पर पता चलता है कि इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त भी तीन रचनाएँ– 'युक्तिचिन्तामणि', 'त्रिवर्गमहेन्द्र मातलिसंजल्य' और 'षण्णवतिप्रकरण' थी। परन्तु वर्तमान तक ये तीनों रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई है। इस प्रकार सोमदेव बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। भारतीय राजशास्त्र में शुक्रनीति के पश्चात् नीतिवाक्यामृत के अतिरिक्त राजशास्त्र विषयक कोई भी मौलिक ग्रन्थ नहीं मिलता। अतः सोमदेव प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्तिम राजशास्त्र प्रणेता रहें। 11वीं सदी के प्रारम्भिक चरण की राजनीति ज्ञान हेतु इनकी यह रचना सबसे मौलिक है। सोमदेव विरचित नीतिवाक्यामृत एक नीति परक गद्यमय ग्रंथ है जिसमें छोटे–छोटे वाक्यों अथवा सूत्रों में विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसमें वर्णित प्रत्येक श्लोक एक ही मुख्य विषय की व्याख्या करता है। इसी कारण विषय के अनुसार ही इसके समुद्देश छोटे या बड़े होते हैं। यहां सबसे छोटे समुद्देश (अध्याय) में केवल आठ तथा सबसे बड़े समुद्देश में 171 सूत्र हैं। सबसे छोटा समुद्देश दण्डनीति समुद्देश है तथा मंत्री समुद्देश सबसे बड़ा है। इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथ में 1525 सूत्र है जिन्हें 32 समुद्देश के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

नीतिवाक्यामृत ग्रंथ को पढ़ने पर लगता है कि पहले सोमदेव सूरी ने अपने से पहले के आचार्यों के ग्रंथों का अध्ययन किया तथा इसके पश्चात उन विचारों को धर्म, राज, लोक और अर्थनीति आदि विषयों को समुद्देश रूप में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया। इसमें वर्णित सूत्र मानव जीवन को संपूर्ण व्यवहार में निपुण बनाते हैं तथा ये विचार राजा से लेकर प्रजा आदि सभी को सदाचार पूर्ण शिक्षा देते हैं।

इस इकाई में दण्डनीति समुद्देश तथा जनपदसमुद्देश के द्वारा भारतीय राजतंत्र को समझने के लिए स्पष्ट किया गया है। कविकुलराज सोमदेव सूरि द्वारा रचित 'नीतिवाक्यामृतम्' नामक ग्रन्थ एक नीतिशास्त्र है। लेखक ने पहले के प्राचीन आचार्यों के विचारों के सम्यक् अध्ययन के बाद इसमें धर्मनीति, राजनीति, लोकनीति, अर्थनीति आदि से सम्बद्ध अपने विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। इसके अध्ययन से लाभ उठाकर कोई भी व्यक्ति सांसारिक व्यवहार में कुशलता प्राप्त कर सुखपूर्वक अपनी जीवन–यात्रा का निर्वाह कर सकता है। इसके विचार शासक और शासित सभी के लिए मार्गदर्शक जैसे हैं। ये ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी सभी को सदाचार की शिक्षा देते हैं।

नीतिवाक्यामृतम् में धर्म, अर्थ, दण्ड, राजा, जनपद, स्वामी, मन्त्री, कोश, व्यवहार, युद्ध, विवाह आदि अनेक विषयों पर सरल संस्कृत गद्यवाक्यों में विचार किया गया है। सर्वत्र विचारों की प्रस्तुति सूत्र रूप में है। इसमें दण्डनीति और जनपद से सम्बद्ध प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्तों के पक्षों का बोध होता है।

जनपदसमुद्देषः 19.1–10
पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते षोभते इति राष्ट्रम्।।1।।

अर्थात्, पशु, अन्न,सुवर्ण, संपत्ति जो सुशोभित हो वह राष्ट्र है।

भर्तुर्दण्डकोषवृद्धिं ददातीति देषः।। 2।।

जो राजा को अधिकार और कोशवृद्धि दे, वह देश है।

विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान्
वाजिनष्च विसिनोति बध्नाति इति विशयः।। 3।।

अर्थात नाना प्रकार की वस्तुओं को देकर राजा के घर में हाथी, घोड़े आदि बाँधने के कारण देश को विषय कहा गया है।

सर्वकामदुधात्वेन पतिहृदयं मण्डयति भूशयतीति मण्डलम्।। 4।।

अर्थात् कामधेनु के समान सब प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करके स्वामी के हृदय को मण्डित करने के कारण (राज्य की) मण्डल संज्ञा है।

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः।। 5।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रम वालों के रहने के स्थान, और द्रव्य की उत्पत्ति का पद अर्थात् स्थान होने के कारण जनपद कहा गया है।

निजपतेरुत्कर्शजनकत्वेन षत्रुहृदयं दारयति भिनत्तीति दरत्।। 6।।

अर्थात् अपने स्वामी का उत्कर्ष करने के कारण शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण करने के कारण से राज्य को दरत् कहते है।

आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निगमयति निर्गमयतीति
निगमः।।7।।

अर्थात् जो अपनी समृद्धि के कारण स्वामी को सब प्रकार की आपत्तियों से बहार निकाल दे वह ही निगम है।

अन्योऽन्यरक्षकः, खन्याकरद्रव्यनागधनवान्, नातिवृद्धनातिहीनग्रामः,
बहुसारविचित्रधान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिः। अदेवमातृकः, पषुमनुष्यहितः,
श्रेणिषूद्रकर्शकप्राय इति जनपदस्य गुणाः।।8।।

अर्थात् जनपद के निम्नलिखित गुण है – वह एक–दूसरे का रक्षक हो, अर्थात् जनपद से राजा की रक्षा होती हो और राजा से जनपद की रक्षा होती हो, वहाँ तरह–तरह के खनिज पदार्थ और कर से प्राप्त होने वाली धातुएँ हो। उसके जंगलों में हाथी हो। उसके गांव न बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े ही हों, जिसमें बहुमूल्य और विचित्र–विचित्र प्रकार के धान्य, सुवर्ण तथा विक्रय की बाजारू वस्तुएँ सुलभ होती हों। जहाँ की खेती–बाड़ी केवल देवमातृक न हो (अर्थात् नहर, नदी आदि हों न कि मेघ ही पानी बरसावे तो खेती हो)। जो पशुओं और मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर हो। जहाँ अनेक श्रेणी के लोग (अर्थात् जुलाहे, कारीगर, चर्मकार आदि) हों।

विशतृणोदकोशरपाशाणकण्टगिरिगर्त्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्शाजीवनो व्यातलुब्धकम्लेच्छबहुलं, स्वल्पसस्योत्पत्ति, तरुफलाधार इति देषदोशाः।।9।।

अर्थात् घास–फूस और जल का विषाक्त होना, अधिकांश भूभाग का ऊसर, पथरीला और कंटीला अर्थात् कांटेदार झाड़ियों से युक्त होना, तथा छोटे–बड़े गड्ढों से युक्त होना, बहुत वर्षा होने पर जीवन का निर्भर होना, सर्प, बहेलिया और म्लेच्छों की अधिकता का होना, थोड़ा अन्न उत्पन्न होना, और केवल वृक्षों के फलों पर जीवन निर्वाह की स्थिति का होना ये सब देश के दोष है।

तत्र सदा दुर्भिक्षमेव यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्ति–रकृष्टभूमिष्वारम्भः।।10।।

अर्थात् वहां सदा अकाल ही रहता है। जहां केवल मेघ के जल पर खेती निर्भर करती है, जहां भूमि ऐसी होती है कि वह जोती जा सके।

उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट होता है कि नीतिवाक्यामृत की सरल भाषा, सूत्र शैली और विषय प्रतिपादन में व्यापकता है। महापंडित सोमदेव सूरी ने राज्य, समाज और नीति से जुड़े उन सभी विषयों की चर्चा की है जो मानवीय समाज और राज्य–व्यवस्था के लिए उपयोगी होती है। दण्डनीति समुद्देश में दण्ड के स्वरूप, महत्व और दुरूपयोग आदि की मीमांसा की गई है। जनपद समुद्देश में राष्ट्र और जनपद वाची शब्दों के प्रयोग की समीक्षा के साथ जनपद की उन्नति और अवनति के कारणभूत गुणों और दोषों का उल्लेख किया है। जनपद समुद्देश में सोमदेवसूरि ने जनपद से सम्बन्धित राजनीति के सैद्धान्तिक पक्षों का वर्णन किया है, यथा – राष्ट्र, देश, विश्, मण्डल, जनपद, दरत्, निगम आदि यहाँ जनपद के गुणों में वृद्धि करने वाले व उन्नति के बाधक तत्वों की समीक्षा की है।

जनपद की संज्ञाएँ – प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने जनपद के लिए अनेक संज्ञा पदों का प्रयोग किया, जिनमें बहुत सी संज्ञाओं यथा राष्ट्र, विषय, देश, मण्डल, जनपद, दरत, निगम आदि को सोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृतम् में परिभाषित करते हुए कहा है–

1. **राष्ट्र** : सोमदेव के अनुसार पशु, अन्न, धन और सुवर्ण आदि सम्पत्ति से जो सुशोभित हो वही राष्ट्र है, अतः राष्ट्र एक व्यापक भूभाग से सुशोभित होता है।
2. **देश** : जो क्षेत्र राजा के अधिकार में प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न हो, वह देश कहलाता है।
3. **विषय** : जो क्षेत्र राजा को हाथी, घोड़े, कर आदि अनेक वस्तुओं को प्रदान करता है, विषय कहलाता है। इसे विश् भी कहते हैं।
4. **मण्डल** : जो क्षेत्र राजा के सभी मनोरथों को कामधेनु गाय के समान पूर्ण कर उसे सम्माननीय स्थान प्रदान करे, वह 'मण्डल' कहलाता है।
5. **जनपद** : जन से अभिप्राय है– चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) में रहने वाले लोग तथा पद का अभिप्राय है स्थान अर्थात् इन सब जनों के रहने का स्थान ही जनपद है, जिसमें संसाधन व धन की प्राप्ति होती है।
6. **दरत्** : दरत् का अभिप्राय है, चीरने वाला अर्थात् जो क्षेत्र अपने स्वामी के उत्कर्ष में उसके शत्रुओं को चीर देता है या नष्ट कर देता है, वही क्षेत्र दरत् है।

7. **निमग** : निगम 'निर्गम' शब्द से बना है जिसका अभिप्राय है – निकाल देना अर्थात् जो क्षेत्र अपने स्वामी की समृद्धि के लिए सब प्रकार की विपत्तियों आपत्तियों को बाहर निकाल दे वही निगम है।

इस प्रकार सोमदेव सूरि ने राज्य के संबंध में इन सात नामों को ग्रहण किया है तथा प्रत्येक नाम एक–दूसरे का लगभग पर्यायवाची ही है। परन्तु अलग–अलग नामपदों को क्षेत्र रूप में अन्य राजनीतिज्ञों ने अपने ग्रन्थों में ग्रहण किया है, जिनको संक्षेप रूप में सोमदेव ने वर्णित किया है।

सोमदेव के अनुसार जनपद की श्रेष्ठता उसमें निहित गुणों के कारण होती है, जो निम्नलिखित इस प्रकार हैं–

1. जनपद में राजा और जन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जो सदैव एक दूसरे की रक्षा करते हैं, यथा–राजाजन को सुरक्षा प्रदान करता है, तो जन राजा को संसाधनों से सम्पन्न बनाते हैं।
2. जनपद में अनेक तरह के खनिज पदार्थ और धातुएँ अर्थात् प्राकृतिक सम्पदाएं होनी चाहिए, इससे जनपद सफलता को प्राप्त करता है।
3. जनपद के जंगलों में हाथी हो अर्थात् ऐसे पशुओं का आश्रय होना चाहिए, जो उनके कार्य में सहायक बन सके।
4. यह क्षेत्र न तो बहुत बड़ा होना चाहिए कि अच्छी प्रकार से प्रजा की सुरक्षा न की जा सके और न ही छोटा होना चाहिए कि शत्रु आसानी से उस पर आक्रमण कर सके।
5. जनपद में बहुमूल्य और समान्य सभी प्रकार की वस्तुएं यथा–धान्य, सुवर्ण आदि होनी चाहिए।
6. कृषि कार्य केवल देवमातृक अर्थात् वर्षा के जल पर ही निर्भर न हो, बल्कि नहर, नदी भी होनी चाहिए।
7. जनपद का क्षेत्र सभी प्राणियों को कल्याण करने वाला होना चाहिए।
8. इस क्षेत्र में विभिन्न वर्णों के लोग यथा बढ़ई, जुलाहा, धोबी, भारवाहक होने चाहिए।

अतः इस प्रकार का जनपद क्षेत्र समस्त जनों के लिए, कल्याणकारी होता है।

देश या जनपद के दोष : किसी देश के दोष उसकी उन्नति में सदैव बाधक होते हैं, सोमदेव ने जनपद के गुणों के साथ–साथ देश के दोषों का वर्णन इसीलिए किया है ताकि उनका परिहार किया जा सके। ये दोष निम्न है–

1. देश की घासफूस और जल का विषाक्त होना, क्योंकि इससे वहाँ के प्राणियों में विकार तथा मृत्यु उत्पन्न हो जाएगी।
2. देश के अधिकांश भाग ऊसर, पथरीला, कंटीला तथा गड्ढों से युक्त होने पर भी वहाँ के प्राणियों का रहना दुर्लभ हो जाएगा अतः यह भी एक दोष है।
3. जिस क्षेत्र में केवल वर्षा के जल पर ही जीवन निर्भर होगा, वहाँ खेती करने वाला सदैव वर्षा पर आश्रित रहेगा इसलिए ऐसा क्षेत्र भी चिन्ताजनक स्थितियों को उत्पन्न करने वाला होगा।

4. जिस क्षेत्र में हिंसक जीव (सर्प, बहेरिया आदि) अधिक होंगे वह क्षेत्र भी देश का दोष होगा।
5. जिस भूमि पर फसल कम होगी और जीवन निर्वाह की स्थिति केवल वृक्षों के फलों पर निर्भर होगी, वह क्षेत्र भी दोष युक्त है।

क्योंकि उपर्युक्त प्रकार के क्षेत्रों में अकाल ही रहता है। अतः ऐसे क्षेत्र कभी भी किसी को समृद्ध नहीं बना सकते। वहाँ रहने वाले सब प्राणी सदैव त्रस्त रहते हैं, इसलिए ऐसे क्षेत्र पर या तो रहना ही नहीं चाहिए या ऐसी स्थिति अगर किसी स्थान पर उत्पन्न होने लगे तो, इसे दूर करने के लिए यथा– संभव उपाय करने चाहिए, ताकि देश समृद्ध बन सके।

15.3.3 महात्मा गाँधी

भारतीय राजशास्त्र के प्रमुख विचारकों में महात्मा गाँधी का महत्वपूर्ण स्थान है, उन्हें भारतीय राजनीति का आधुनिक चिन्तक कहा जाता है। उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता और राष्ट्रपिता के रूप में अपनी भूमिका निभाई। देश की राजनीतिक तथा सामाजिक प्रगति हेतु इन्होंने अंहिसक आन्दोलन में विश्वास रखा।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्तुबर 1869 तथा मृत्यु 30 जनवरी 1948 को हुई। भारत में उनका राजनैतिक जीवन अफ्रीका से लौटने के पश्चात् (1914) ही प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में उन्होंने भारतीय सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों का अध्ययन किया। 1918 तक इन्होंने राजनीति की परिधि में अर्थात् राजनैतिक आंदोलन में शामिल होने से इंकार किया, परन्तु ब्रिटिश अत्याचारों की आलोचना करते रहे। समय के साथ–साथ गांधी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रमुख राजनीतिक एवं आध्यात्मिक नेता के रूप में उभरे। जहाँ उन्होंने सत्य, अहिंसा तथा कठोर तपस्या, साधना के द्वारा नवीन जीवन–दर्शन को प्रस्तुत किया। इन्हीं अहिंसक विरोधी सिद्धान्त एवं सत्य मार्ग पर चलने के कारण उन्हें विश्व पटल पर शान्ति और अंहिसा का प्रतीक माना जाता है।

महात्मा गाँधी ने वेदों में निहित सत्य और अहिंसा के विचारों को अपने जीवन में उतारकर इन्हें राजनीति में व्यवहारिकता प्रदान की। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि यह सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं, जितने कि पर्वत अर्थात् उन्होंने इस दर्शन को केवल पुनर्जीवित ही नहीं किया बल्कि इसका प्रयोग एक नए स्तर पर शुरू किया। अतः उनके सिद्धान्त उन मूल्यों की तरह साक्षी हैं, जो राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय सीमा से परे अर्थात् सार्वभौम हैं।

हमने गाँधी के समय से पहले के अनेक आचार्यों यथा– कौटिल्य, मानाचार्य, सोमदेव आदि की राजनीतिक परिपक्वता को पढ़ा है, परन्तु के राजनीति विषयक नियम तत्कालीन समय के लिए अधिक उपयुक्त जब राजा के माध्यम से प्रजा का पालन होता तथा राज्यों की सीमाओं के लिए एक राजा, दूसरे राजा का अतिक्रमण करता।

परन्तु गाँधी जी का समय एक ऐसी शक्ति को एकत्र करने का समय रहा जहाँ संगठन शक्ति, अंहिसा और सत्य की पवित्र शक्ति के सहारे जीत की प्राप्ति हुई। उनके अनुसार सत्य स्वयं में एक संवर्धनशील सिद्धान्त है। उनका मानना था कि मानव अपने अस्तित्व रक्षा हेतु या तो नैतिक बल का सहारा लेता है या फिर भौतिक बल। भौतिक बल से अभिप्राय शक्ति, अस्त्र, परमाणु हथियार आदि हैं, जो मानव को नरसंहार के

साथ–साथ आत्मसंहार की ओर भी ले जाते हैं तथा नैतिक बल एक ऐसा बल है, जिस पर चलने के लिए बहुत साहस और धैर्य की आवश्यकता है, जिसे मानव भूलता जा रहा है। इसी नैतिक बल को जागरूक कर लोगों को आत्मस्वाभिमानी बनने की राह गाँधी ने प्रदान की। इसी कारण वे अपने जीवन में एक सफल कर्मयोगी, चिन्तक, लेखक, सेवक और सबसे बढ़कर राष्ट्रपिता कहलाए। उनके द्वारा किया गया चिन्तन, समाज को समानता की राह दिखाता है।

इसीलिए गाँधी जी के विचार गाँधीवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं कहा कि **''गाँधी मर सकता है, गाँधीवाद नहीं''** अर्थात् गाँधीवाद एक विचारधारा है, जिसके सिद्धान्त और तथ्य सार्वभौमिक हैं। अतः गाँधी जी एक संत–क्रांतिकारी थे, क्योंकि संत के रूप में वे सदैव अपने जीवन के आध्यात्मिक पहलुओं तथा क्रांतिकारी रूप में सत्य–अहिंसा से कार्यों को सम्पन्न करते थे। इसी कारण उनके राजनीतिक विचार नैतिकता पर आधारित थे, जहाँ अधिकारों से ज्यादा कर्तव्य को महत्व दिया। आर्थिक विचारों में ऐसे समाजवाद को अग्रसर किया जो अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में आत्मनिर्भर हो तथा इसे ही विकासोन्मुखी अर्थव्यवस्था का आधार माना। गाँधी जी सामाजिक विचारों के अन्तर्गत ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते थे, जो संगठित तथा विविधताओं का सम्मिश्रण होने पर भी एकीकृत हों, जहाँ एक–दूसरे में भाई–चारे तथा सम्प्रदाय की सद्भावना का विकास भी हो। इस प्रकार प्रत्येक विचार को तभी पूर्ण माना जब उसमें सत्य और अहिंसा विद्यमान रहें।

गाँधी जी के राजनीतिक विचारों में नैतिकता के साथ–साथ कुछ मूलभूत बातें और भी निहित रहीं, यथा–

1. धर्म व राजनीतिक

गाँधी जी के अनुसार धर्म ही मनुष्य को उसकी आत्मा से जोड़कर रखता है तथा संसार के सभी धर्म एक समान हैं क्योंकि सबका लक्ष्य भाई–चारे की भावना का विकास तथा मनुष्य को बुराई से दूर रखना है। उनके अनुसार धर्म, नैतिकता, सत्य, अंहिसा, ईश्वर ये सब एक दूसरे के पर्यायावाची हैं। अतः ये सब मनुष्य के उच्च जीवन जीने के साधन है।

उन के अनुसार राजनीति बिल्कुल स्वच्छ नैतिकता पर आधारित होनी चाहिए क्योंकि यह भी मनुष्य का उच्चतर जीवन जीने का साधन है। अतः गाँधी जी ने धर्म व राजनीति को एक ही सिक्के के दो पहलू माना है, उनका मानना था कि धर्म के बिना राजनीति एक गन्दगी है।

2. स्वराज्य

गाँधी जी के लिए ब्रिटिश शासन से मुक्ति ही स्वराज्य नहीं था, उनके अनुसार स्वराज्य एक ऐसी शक्ति है जो कि लोगों के अपने प्रयासों के द्वारा उनकी स्थिति को सुधारने में सहायक बनाती है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य अपना भाग्य स्वयं बनाते हैं। यह ऐसी क्षमता है जो शासन के भ्रष्ट होने की स्थिति में उसे चुनौती देने को प्रेरित करती है। उन्होंने अपनी पुस्तक हिन्द स्वराज्य में स्वराज्य के दो पहलू बताए–

1. **स्वतंत्र शासन के रूप में भारत के लिए शासन**– यहाँ स्वतंत्र शासन से अभिप्राय था – ''ब्रिटिश शासन से मुक्ति'' अर्थात् पूंजीवाद से छुटकारा तथा

सरकार के निर्माण में जनता की भागीदारी उनके अनुसार भारतवासियों के लिए स्वराज्य 'आत्मशुद्धि का आंदोलन' है अर्थात् स्वराज्य केवल राजनीतिक चेतना मात्र न होकर सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक चेतना का विकास भी है।

2. **प्रत्येक व्यक्ति के लिए शासन**– यहाँ प्रत्येक व्यक्ति का शासन से अभिप्राय है अपने आत्मस्वाभिमान, आत्म विश्वास को प्राप्त करने की शक्ति, जो कि नैतिक मूल्यों पर आधारित है। इस प्रकार उनके अनुसार यह स्वराज्य केवल स्वतंत्रता या बंधनों से मुक्ति नहीं है, बल्कि यह तो मोक्ष है।

   अतः गाँधी का स्वराज्य राजनीतिक अवधारणा से कहीं अधिक है। यह सरकार निर्माण के साथ–साथ स्वनिर्माण का भी तरीका है, जो सत्य, अहिंसा, त्याग, आत्म संयम, सहिष्णुता आदि भावनाओं से विकसित होता है।

3. **लोकतंत्र** : गाँधी जी के अनुसार लोकतंत्र–लोगों का तंत्र (शासन) है अर्थात् लोगों की सहमति से चलने वाली सरकार या शासन। उनके अनुसार लोकतंत्र मात्र मताधिकार का प्रयोग नहीं है और न ही यह समानता, स्वतंत्रता है। ये सब तो लोकतंत्र के केवल सहायक तत्व हैं। वास्तव में लोकतंत्र शक्ति का विकेन्द्रीकरण है, जो प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा को बनाए रखते हुए सिर्फ जनता का, जनता के लिए तथा जनता के ऊपर शासन है।

4. **स्वतंत्रता** : गाँधी जी के अनुसार स्वतंत्रता का संबंध विवेक से, इच्छाओं व आकांक्षाओं को सुव्यवस्थित करके नियंत्रित करना है, यह व्यक्ति से आरम्भ होकर व्यक्ति में ही निहित होती है। अतः यह स्वयं के साथ कार्य करने की शक्ति है, न की दूसरों के अनुसार चलने की। क्योंकि मशीन ही दूसरों के अनुसार चलती है और मनुष्य मशीन नहीं है। इसीलिए गाँधी जी ने स्वतंत्रता संग्राम में ऐसे किसी भी कानून का सहयोग करने का विरोध किया, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता पर चोट करता हो। उनके अनुसार स्वतंत्रता एक ऐसी सुविधा है, जो मानव को मर्यादा, अनुशासन नियंत्रण में रखती है। यह एक दायित्व है न कि छूट।

5. **राज्य** : गांधी जी के अनुसार राज्य व्यक्ति पर बाहर से थोपा गया प्रयोजन है, इसीलिए वे राज्य तथा राजनीतिक सत्ता को दमनकारी संस्था का नाम देते हुए, इसे न्यूनतम बनाए रखने में विश्वास रखते हैं। इसीलिए वे रामराज्य की अवधारणा को आधार मानते है, जहाँ शक्ति का प्रवाह नीचे से ऊपर की तरफ होता है। जो नीचे तबके से शुरू होकर ऊपर तक संचालित होती है अर्थात् यह विकेन्द्रित शक्ति है। जो सबसे पहले ग्राम पंचायत, जिला, प्रांत, राष्ट्र और उसके पश्चात् विश्व में प्रसारित होती है। इस प्रकार हर स्तर पर विकास होगा जिससे व्यक्ति तथा समाज के कल्याण से शासन का लक्ष्य पूरा होगा।

6. **सत्य, अहिंसा** : गाँधी जी के अनुसार सत्य ही समस्त नैतिकता का सार है। यह एक ऐसा पेड़ है, जिससे फल कभी समाप्त नहीं होते हैं। इसीलिए सत्य, धर्म, नैतिकता इन सबको एक–दूसरे का पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार सत्य आत्मा की आवाज है, जो मानव को अज्ञान से मुक्ति दिलाकर ज्ञान का मार्ग दिखाता है।

   गाँधी जी के अनुसार अंहिसा दूसरों से स्नेह व प्रेम करने की अभिव्यक्ति के साथ–साथ मन, कर्म, वचन से किसी को भी हानि न पहुँचाना है। इसके लिए गाँधी जी ने प्रत्येक मनुष्य के अंहिसा के पर्याय अलग–अलग बताए है, यथा–

वीर के लिए अहिंसा वह है, जो बल हान के बाद भी वह उसे प्रयोग न करे, कमजोर के पास अहिंसा वह है, जो अपने स्वार्थ के लिए विवश होकर अंहिसा करे, डरपोक के लिए अहिंसा वह है, जो अपने डर को छुपाने के लिए हिंसा का प्रयोग न करे, क्या यह नपुंसक की हिंसा होती है, डरपोक से नपुसंक बेहतर होता है। गाँधी जी के अनुसार – वार्ता, व्रत, सामाजिक बहिष्कार, आन्दोलनों हड़ताल आदि ये सब अंहिसा के ही साधन रहे है।

7. **स्वदेशी** : गाँधी का स्वदेशी, मात्र विदेश से बनी वस्तुओं का बहिष्कार ही नहीं है। उनके आर्थिक विचारों के अनुसार यह एक कर्तव्य है– जो हम अपने नजदीकी सेवाओं के लिए अपनाते हैं अर्थात् हमें उन सेवाओं का प्रयोग करना चाहिए, जो हमारे निकटतम बनती है न कि उनका जो दूर क्षेत्रों से बनकर आती हैं। धार्मिक क्षेत्र में इसका अभिप्राय अपने पूर्वजों के धर्म का अनुसरण से है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका अभिप्राय राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना से है।

   वे स्वदेशी केवल एक क्षेत्र मात्र में ही चाहते थे, उनके स्वदेशी का मतलब हर क्षेत्र को मजबूत बनाना था, ताकि प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरी कर सके। इसके लिए राजनीतिक संस्थाएँ तो एक माध्यम मात्र थीं जो लघु–कुटीर उद्योग के निर्माण में लोगों की सहायता करें। उनका स्वदेशी का पर्याय बिल्कुल भी यह नहीं था कि लोग अन्धराष्ट्रभक्ति करे और अन्तर्राष्ट्रीय मानवता का विरोध करें। उनका लक्ष्य तो राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्र को सक्षम बनाना रहा है।

निष्कर्ष : अतः हम कह सकते हैं कि गाँधी जी ने राजनीति के प्रत्येक आयाम का मूल्यांकन कर, संकीर्ण विचारधारा को त्यागकर आधुनिक विचारों के साथ समाज को सक्षम बनाने की कोशिश की। इसी कारण उनके यही विचार सिद्धान्तों की तरह सम्पूर्ण विश्व में जाने जाते हैं। उनके इन्हीं सिद्धान्तों सत्य, न्याय, अंहिसा से वे राजनीति के आदर्श बन गये थे, जिन्हें उन्होंने न सिर्फ अपने जीवन में उतारा बल्कि इसके साथ जिए, इसी कारण उनके इन विचारों को न केवल भारत में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में सम्मान दिया जाता है। अतः उनका स्वयं का जीवन ही उनकी सबसे बड़ी सम्पदा थी।

'गाँधी गीता'

प्रोफेसर इन्द्र कुमार द्वारा रचित आधुनिक काव्य है। जिसमें महात्मा गाँधी के द्वारा जीवन में अपनाए गए 'जीवन योग' की शिक्षा को श्लोकों या पद्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया। यह 'गाँधी गीता' 18 अध्याय में 700 श्लोकों के साथ विरचित है।

गाँधी गीता में प्रो0 इन्द्र कुमार ने गाँधी जी के राजनैतिक एवं आध्यात्मिक जगत को बताया है। यहाँ गाँधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त की अवधारणा से लेकर आजादी तक के जीवन को बताया गया है, जहाँ वे रामराज्य रूपी समाज की रूपरेखा रखते हैं।

गाँधी गीता का प्रथम अध्याय स्वतंत्रता संग्राम के महान नेताओं के नाम से ही शुरू होता है, जब रवीन्द्रनाथ टैगोर, एण्ड्रयूज से भारत के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाले वीरों के विषय में पूछते हैं। जहाँ वे गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी, दादाभाई नोरौजी, तिलक, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू और सबसे महत्वपूर्ण नायक महात्मा गाँधी के विषय में विस्तार पूर्वक बतलाते हैं कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में किस प्रकार इन महान नेताओं ने आन्दोलन को प्रखर बनाया।

गाँधी जी द्वारा दिया गया यह गीता उपदेश वहाँ से शुरू होता है, जब राजेन्द्र प्रसाद चम्पारण में आकर गाँधी जी के सैद्धान्तिक विचार अंहिसा पर सन्देह प्रकट करते हैं। तब गाँधी जी उन्हें अंहिसा का वास्तविक और व्यवहारिक रूप स्पष्ट करते हैं। उन्होंने कहा कि देश से अंहिसा का अभिप्राय काफी व्यापक है, इसे सिर्फ 'हिंसा न करने' से ही नहीं जोड़ा जा सकता। उनके अनुसार किसी भी प्राणी को तन, मन, कर्म, वचन और वाणी से भी कोई नुकसान न पहुँचाना अंहिसा है। इस सिद्धान्त से न सिर्फ आन्दोलन सफलता प्राप्त करेगा, बल्कि इससे समाज में व्याप्त बुराईयाँ यथा अविद्या, दारिद्रय, अस्पृश्यता आदि का भी खण्डन होगा। इस सिद्धान्त के साथ–साथ सत्य, उपवास, ईश्वरभक्ति आदि दार्शनिक तत्त्वों का भी समाज में विकास होगा। उनके अनुसार इसी से समाज को 'रामराज्य' का स्वरूप प्राप्त होगा।

अतः इस प्रकार सम्पूर्ण गाँधी गीता में भगवदगीता के समस्त शाश्वत सत्यों को रखा गया है, इसी कारण इसका नामकरण गाँधी गीता रखा गया। यहाँ गाँधी 'कृष्ण' तथा राजेन्द्र प्रसाद 'अर्जुन' के स्वरूप में है। तभी तो अन्त में राजेन्द्र प्रसाद कहते हैं कि–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्तु मोहन।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिश्ये वचनं तव।।

अर्थात् मेरा मोह नष्ट हो गया है, आपकी कृपा से मुझे ज्ञान की प्राप्ति हुई है। हे मोहन! अब मैं सन्देह से रहित होकर आपके वचनों का पालन करने को तैयार हूँ।

इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य को गीता के समान ही 18 अध्यायों में विभक्त कर सत्य को सर्वप्रिय बताया गया है। यहाँ सत्याग्रह का विवेचन पञ्चम अध्याय में किया गया, जो कि पठनीय पाठयक्रम का अंश हेतु हैं–

गाँधी गीता (पञ्चमअध्याय 1–25)

राजेन्द्र उवाच

योऽयं सत्याग्रहः ख्यातो, नवीनो नव्यभारते ।
अन्यत्र चापि देशेषु, स किं बोधय मोहन ।। 1 ।।

राजेन्द्र ने कहा– यह जो सत्याग्रह नाम से नया सिद्धान्त नवीन भारत में तथा अन्य देशों में विख्यात है, हे मोहन! वह क्या है, इसे आप समझाएं।

श्री मोहन उवाच

नायं कश्चिन्नवीनोऽस्ति, भारतेऽन्यत्र चाश्रुतः।
कुर्वे पुरातनं सत्यं, प्राचीनं तू क्रियात्मकम् ।। 2 ।।

श्री मोहन ने कहा– यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, जो भारत में अथवा अन्यत्र सुना नहीं गया। मैं तो प्राचीन एवं पुरातन सत्य को क्रियात्मक बनाने का यत्न कर रहा हूँ।

परपक्षमसत्यस्थं, स्वपक्षं सत्यसंश्रितम्।
मत्वा सत्यस्य रक्षार्थं, यत्नः सत्याग्रहो मतः।। 3 ।।

दूसरे के पक्ष को असत्य पर ठहरा हुआ जानकर और अपने पक्ष को सत्य पर आश्रित हुआ मानकर, सत्य की रक्षा के लिए जो यत्न किया जाता है, वह सत्याग्रह है।

स एष न परापेक्षः, स्वापेक्ष एव सर्वदा।
स्वयं दुःखसहस्राणां, सहनं नान्यपीडनम्।। 4।।

यह सत्याग्रह दूसरे की अपेक्षा नहीं करता, यह तो अपनी ही अपेक्षा करता है। इसमें स्वयं सहस्त्रों दुःखों को सहन किया जाता है। दूसरों को पीड़ा नहीं दी जाती है।

दुःखानि सहमानस्य, वरं प्राणविसर्जनम्।
परमन्यायिनोऽन्यायस्वीकारो न कदाचन। 5।।

दुःख सहन करते हुए प्राणों को त्याग देना अच्छा है, परन्तु अन्यायी के अन्याय को स्वीकार करना कदापि अच्छा नहीं।

धर्मस्य च नयस्यापि, रक्षायै यः सदाग्रहः।
मूकमात्मबलेनैव, स हि सत्याग्रहः स्मृतः।। 6।।

धर्म और न्याय की रक्षा के लिए जो मूक आत्मिक बल से सच्चा आग्रह करना है– वह सत्याग्रह कहलाता है।

तस्य सत्याग्रहस्याथ, चत्वारः संप्रकीर्तिताः।
स्कन्धाः सन्धायिनस्तस्य, विशदार्थप्रकाशकाः।। 7।।

उस सत्याग्रह के चार परस्पर सम्बद्ध, सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाले स्कन्ध अथवा भाग है।

अनृतं प्रथमः स्कन्धो, येनावृतमिदं जगत् ।
नूनमृतविपर्यासो, विवृद्धः पापनामकः।।8।।

अनृत अथवा असत्य पहला स्कन्ध है, जिससे यह सारा जगत् आवृत है। पाप नामी असत्य ही सब तरफ फैला हुआ है।

द्वितीयस्त्वनृतस्यास्य, विजयः पापनाशनः।
आवश्यकस्तथा श्रेयस्करः स्याज्जगतः कृते।।9।।

दूसरा स्कन्ध इस असत्य का विजय है, जो पाप का नाश करने वाला है। यह जगत् के लिए कल्याणकारक तथा आवश्यक है।

हिंसा न साधनं तस्य, पापनाशस्य सर्वथा।
पापानांवर्धयित्री सा, क्लेशानाञ्च तृतीयकः।।10।।

उस पाप को नष्ट करने के लिए हिंसा कोई साधन नहीं है। वह तो पापों को और क्लेशों को बढ़ाने वाली है। यह तीसरा स्कन्ध है।

अहिंसैव पुनः पाप– शमयित्री विशेषतः।
अनृतोन्मूलने शक्ता, स्कन्ध एषश्चतुर्थकः।। 11।।

अहिंसा ही विशेष रूप से पाप को शान्त करने वाली है और अनृत को नष्ट करने में शक्त है। यह चौथा स्कन्ध है।

सत्याग्रही सत्यपरः परेषां
दुःखानि सञ्चिन्तयति प्रबुद्धः।

शान्तः सदा चैव मृदू रिपुभ्यो
नान्यायकार्थं सहते तु तेषाम् ।। 12।।

सत्याग्रही सत्य पर टिका हुआ, प्रबुद्ध होकर, दूसरों के दुःखों का चिन्तन करता है। वह सदा शान्त रहता है, और शत्रुओं के प्रति कोमल रहता है। वह उनके अन्याय–कार्यों को सहन नहीं करता।

न्याय्यात्पथो नो विचलन् पदं स
शान्तिप्रियः शान्तिमहिंसयैव।
धीरः सदा कामयतेऽनिराशः
श्रद्धां दधानस्तु नृणां सुरत्वे ।।13।।

न्याय के मार्ग से एक कदम भी विचलित न होता हुआ, वह शान्तिप्रिय (सत्याग्रही) धैर्यपूर्वक, निराश न होते हुए, मनुष्यों के दैवी गुणों में श्रद्धा रखता हुआ अहिंसा द्वारा ही सर्वत्र शान्ति की कामना करता है।

सत्याग्रहोऽपरं नाम, विशालस्नेहसम्पदः।
नाहं जानामि संसारे, स्नेहेनाजेयमेव यत्।। 14।।

सत्याग्रह विशाल स्नेह सम्पत्ति का दूसरा नाम है। मैं संसार में ऐसा कुछ नहीं जानता, जो स्नेह से नहीं जीता जा सकता।

नान्यान् दहति स्नेहाग्निर्दहत्यात्मानमेव हि।
स्वयं तु दूयमानोऽपि, परांस्तु न दुनोति सः।। 15।।

स्नेह की अग्नि दूसरों को नहीं जलाती, अपने को ही जलाती है। अपने आप दुःखी होता हुआ भी, वह दूसरों को दुःखी नहीं करता।

नमयति नृशंसं वै स चेत आततायिनः।
मानवी प्रकृतिः प्रायः, सर्वत्राप्येकसदृशी।। 16।।

वह आततायी के निर्दय चित्त को भी कोमल बना देता है। मनुष्य की प्रकृति प्रायः सब जगह एक सदृश होती है।

अभीष्टं यदि कस्यापि भवेद्रक्तप्रवाहणम्।
रक्तं स्यादात्मनस्तत्तु, न परस्य कदाचन।। 17 ।।

यदि किसी का खून बहाना अभीष्ट भी हो तो वह अपना ही खून होना चाहिए, किसी दूसरे का कदापि नहीं।

सत्याग्राही सदा वेत्ति, मरणं मारणं नहि।
महीयो मरणं मन्ये, मारणाद् बलवत्तरम्।। 18 ।।

सत्याग्रही सदा मरना जानता है, मारना नहीं। मैं मरने को मारने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली समझता हूँ।

मृत्युर्भीषयते नैव, सत्याग्रहव्रतस्थितम् ।
हसन् स सत्यरक्षार्थं, शूलमारोहति स्वयम् ।। 19 ।।

सत्याग्रह व्रत में स्थित व्यक्ति को मौत नहीं डरा सकती। वह तो सत्य की रक्षा के लिए स्वयं सूली पर चढ़ जाता है।

सत्याग्रहचमूनाञ्च, मृत्युनिर्भयचेतसाम्।
पुरा स्थातुं समर्था न, शक्तिः शक्तापि काचन।। 20 ।।

मौत से निडर मन वाली सत्याग्रह की सेनाओं के सामने कोई बलवान् भी शक्ति ठहरने में समर्थ नहीं होती।

असिस्तासां क्षमाऽक्षुण्णाऽहिंसा च कवचं दृढम्।
प्रहरंस्ता नृशंसात्मा, पतत्येव पराजितः।। 21।।

क्षमा उनकी तीक्ष्ण तलवार होती है। अहिंसा दृढ़ कवच। उन पर प्रहार करता हुआ अत्याचारी पराजित होकर गिर पड़ता है।

सत्याग्रहस्य सेनानीः, शस्त्रहीनोऽपि शस्त्रवान्।
निर्मूलं कुरुते शत्रुं, वैरमुन्मूल्य तद्धृदः ।। 22 ।।

सत्याग्रह–सेना का नायक शस्त्रहीन भी सशस्त्र होता है। वह शत्रु को, उसके हृदय से वैर को निकालकर, निर्मूल कर देता है।

एवं सत्याग्रही नैव, स्वकं वेत्ति पराजयम्।
विजयः सर्वदा तस्य, सर्वत्रापि सुनिश्चितः।। 23 ।।

इस तरह सत्याग्रही कभी अपनी हार को नहीं जानता। उसकी विजय सदा, सब जगह, निश्चित होती है।

भारतायापि मन्येऽहं, शस्त्रं सत्याग्रहं परम्।
अमोघं सुप्रयोगञ्च, देशकालोचितं तथा।। 24।।

भारत के लिए भी मैं सत्याग्रह को परम शस्त्र समझता हूँ। यह इस देश के लिए उचित, व्यवहार योग्य और अमोघ शस्त्र है।

एतेनैव हि देशस्य, कल्याणं परमं मतम् ।
नहि सत्याग्रहाच्छ्रेयो, वीक्षे स्वातन्त्र्यसाधनम्।। 25।।

इसी से देश का परम कल्याण हो सकता है। सत्याग्रह से बढ़ कर मैं अन्य स्वतन्त्रता का उत्तम साधन नहीं देखता ।

गाँधी गीता में सत्याग्रह

प्रो. इन्द्र विचरित 'गांधी गीता' के पंचम अध्याय में सत्याग्रह का वर्णन मिलता है। इन्द्र जी ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में महात्मा गाँधी के विचारों को आधुनिक लघु संस्कृत काव्य के माध्यम से स्पष्ट किया है; जहाँ सत्य, अहिंसा, उपवास, ईश्वर अराधना आदि विचारों को स्पष्ट किया है जो कि भारतीय संस्कृति के शाश्वत परिचायक भी है। गाँधी जी ने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूल व्यवहार किया। उन्होंने न सिर्फ वाणी से इसका पालन किया, बल्कि इन शाश्वत सत्यों को अपने जीवन का आधार बनाया। उनके आदर्श स्वराज्य–रामराज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को न्याय, धर्म और प्रेम का शासन मिले।

इस पंचम अध्याय में राजेन्द्र प्रसाद गाँधी जी से पूछते हैं कि यह सत्याग्रह रूपी नवीन सिद्धान्त क्या है? इस विषय में बताएं, तब गाँधी जी कहते हैं कि यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। यह तो वही पुरातन सत्य है, जो हमारी संस्कृति का हिस्सा है, जिसका उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। लोग वास्तव में इसे भूलते जा रहे हैं और मैं उन्हें क्रियात्मक रूप में परोसने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

सत्याग्रह सत्य के लिए आग्रह है, परन्तु यह किसी और का की अपेक्षा नहीं करता है। यह सत्य स्वयं पर आश्रित है, जिस पर चलते हुए अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु अन्याय का स्वाकार नहीं करना है। यह ऐसा सत्य है, जो धर्म और न्याय की बिना बोले हुए रक्षा करता है। इसके चार सिद्धान्त है–

1. अनृतः यह असत्य या पाप है, जो संसार में सब तरफ फैला है।
2. असत्य पर विजय : यह स्कन्ध या सिद्धान्त असत्य रूपी पाप का नाश करने वाला है, जिससे संसार कल्याणकारी बनता है।
3. हिंसा : पाप को हिंसा से नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा तो पापों और क्लेशों को बढ़ाने वाली है।
4. अंहिसा : इस उपर्युक्त पाप को शान्त करने में सशक्त एकमात्र साधन अंहिसा ही है।

अतः सत्याग्रही मनुष्य सदैव सत्य पर टिका रहता है, वह अपने नावों की अपेक्षा दूसरों के दुखों की चिन्ता करता है तथा शान्त रहते हए अन्याय का विरोध करता है। वह न्याय, सत्य, शान्ति, धैर्य आदि दैवी गुणों से युक्त रहता है तथा सभी जगह इसी के व्याप्त होने की कामना भी करता है।

जब समाज में अंहिसा नहीं होगी तो लोगों के मन में एक–दूसरे के प्रति प्रेम भावना का विकास होगा और इस प्रेम भावना में मनुष्य स्वयं को ही कष्ट दे सकता है, किसी अन्य को नहीं। अतः यह प्रेम की भावना एक से दूसरे में विकसित होती हुई, निर्दयी से निर्दयी व्यक्ति के चित्त को भी कोमल बना देगी और इस प्रकार सबमें एक ही जैसी प्रेम भावना का विकास हो जाएगा।

इस प्रकार सत्य का सहारा लेने वाले व्यक्ति में दूसरों को कष्ट देने या मारने के बजाए स्वयं को कष्ट देने का भाव विकसित होगा तथा यही भाव समाज क लिए और प्रत्येक प्राणी के लिए श्रेष्ठ है। अतः गाँधी जी कहते है कि सत्याग्रही मनुष्य को मौत नहीं डरा सकती है, वह तो स्वयं सत्य के लिए कुर्बान होने को तैयार रहता है तथा यही भावना व्यक्ति को इतना सशक्त बना देती है कि इसके सामने कोई ताकत नहीं ठहर सकती।

सत्याग्रही व्यक्ति के लिए उसकी तलवार दूसरों का क्षमा करना है, किसी की हिंसा न करना उसका वचन है। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति पर प्रहार करने वाला स्वयं ही पराजित हो जाता है। इन उपरोक्त अस्त्र शस्त्रों से युक्त सत्याग्रही अपने शत्रु के हृदय से की भावना को निकाल कर उसमें भी प्रेम का सिंचन कर देता है।

अतः सत्याग्रही मनुष्य सदैव अपराजित रहता हुआ, आनन्द प्राप्त करता है और दूसरों को भी आनन्द देता है। गाँधी जी कहते हैं कि इसीलिए मैं सत्याग्रह को सबसे बड़ा शस्त्र मानता हूँ, जो देश के कल्याण के सहायक हो सकता है।

अतः गाँधी जी सिर्फ शत्रु को नष्ट करना ही महत्वपूर्ण नहीं समझते. वो तो समाज से इस शत्रुता के भाव को भी नष्ट कर देना चाहते हैं। जिसके लिए सबसे महत्वपूर्ण

साधन उनके अनुसार सत्याग्रह ही है, जो स्वयं के कल्याण के साथ–साथ विश्व कल्याण में भी सहायक है।

15.4 सारांश

भारतीय राजतंत्र को समझने के लिए संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन अति आवश्यक है। वैदिक साहित्य में वर्णित भारतीय राज्य व्यवस्था सामाजिक संस्थानों को समझने में सहायक होती है। इसीलिए शुक्राचार्य की शुक्रनीति, सोमदेव सूरी की नीतिवाक्यामृत तथा महात्मा गांधी की गांधी–गीता का वर्णन इस इकाई में किया गया है। शिक्षार्थी इन ग्रंथों के माध्यम से राज्य व्यवस्था का आकलन करेंगे तथा वर्तमान व्यवस्था को समझेंगे।

15.5 बोध प्रश्न/ अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. शुक्रनीति की विषय–वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।
2. भारतीय राजतंत्र के महत्वपूर्ण विचारकों को अपने शब्दों वर्णित करें।
3. आधुनिक विचारक महात्मा गांधी के रचना पर टिप्पणी करें।
4. नीतिवाक्यामृत के रचयिता कौन है तथा उनकी रचना की विषय–वस्तु क्या है? स्पष्ट करें।
5. शुक्राचार्य और सोमदेव सूरी के राजतंत्र संबंधी विचारों को विस्तारपूर्वक लिखें।

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं करें।

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अग्निपुराण, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण–2003
- मनुस्मृति, कुल्लकभट्ट टीका व मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या, संपा.–पं. गोपालशास्त्री नेने, व्या.–पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित, 2006.
- धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरंग वामन काणे, हिन्दी अनुवाद अर्जुन चौबे कश्यप, पाँच भाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1963
- याज्ञवल्क्य स्मृति, संपा.–नारायण राम आचार्य, नाग पब्लिशर्स, प्र.सं.– 1985
- कामन्दकीयनीतिसार, आनन्दश्रम, पूणे, 1982
- कौटिल्य–अर्थशास्त्र, सं.–श्री भारतीय योगी, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1995
- कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएँ, कमलेश अग्रवाल, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली 2001
- गाँधी गीता अथवा असहयोग, प्रो. इन्द्र, राजहंस प्रकाशन, दिल्ली, 1949
- नीतिवाक्यामृतम, श्री सोमदेवसूरिविरचितम्, व्या.–रामचन्द्र मालवीय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1972
- वैदिक अध्ययन, शशि तिवारी, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2004।

इकाई 16 राज्यव्यवस्था के विविध सिद्धांत – सप्तांग सिद्धान्त, मण्डल सिद्धांत, षाड्गुण्य सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 भारतीय राज्य व्यवस्था के विविध सिद्धांत

- 16.2.1 सप्तांग सिद्धान्त,
- 16.2.2 मण्डल सिद्धांत
- 16.2.3 षाड्गुण्य सिद्धान्त
- 16.2.4 चतुर्विध उपाय
- 16.2.5 त्रिविध शक्तियाँ

16.3 भारतीय राज्य व्यवस्था महत्त्व

16.4 सारांश

16.5 बोध प्रश्न / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारतीय राजनीति के बारे में परिचय प्राप्त करेंगे।
- भारतीय राजतंत्र के महत्वपूर्ण सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।
- सप्तांग सिद्धान्त के बारे में पढ़ेंगे।
- मण्डल सिद्धान्त के बारे में पढ़ेंगे।
- षाड्गुण्य सिद्धान्त के बारे मे अवगत होंगे।
- राजा के द्वारा प्रयोग किये गए चतुर्विध उपायों को समझेंगे।
- राजा की त्रिवर्ग शक्तियों का अध्ययन करेंगे।

16.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में राज्य व्यवस्था के बारे में विस्तार से बताया गया है जिससे छात्रों को प्राचीन राज्य–व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त होगी। राज्य की सुरक्षा के लिए कई विधायक तत्वों अथवा विविध सिद्धांतों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं तत्वों के अध्ययन के अंतर्गत सप्तांग राज्य, चतुर्विध उपाय, मण्डल सिद्धांत, षाड्गुण्य तथा त्रिवर्ग सिद्धान्त की विवेचना की गई है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात छात्र प्राचीन राज्य–व्यवस्था के बारे में विविध सिद्धान्तों के माध्यम से परिचित होंगे।

16.2 भारतीय राज्य व्यवस्था के विविध सिद्धांत

प्राचीन भारतीय नीति सम्बन्धी ग्रन्थों में राजशास्त्र के सिद्धातों का पर्याप्त विकसित रूप प्राप्त होता है। यह राजशास्त्र संबंधी विचारधारा वैदिक युग से लेकर वर्तमान समय तक प्राप्त होती है। वैदिक युग में इन सिद्धान्तों की पूर्ण सूत्रबद्धता नहीं मिलती। सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से राजशास्त्र के सभी प्रमुख सिद्धान्तों को विस्तारपूर्वक एकत्र करने का श्रेय कौटिल्य को जाता है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के माध्यम से राजशास्त्र को स्पष्ट किया। हालांकि रामायण, महाभारत, पुराणों में भी राजशास्त्र सम्बंधी विषय मिलते हैं, परन्तु कौटिल्य ने अलग से राजनीति के समस्त सिद्धान्तों को स्पष्ट किया यथा – सप्ताङ्ग–राज्य (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल, मित्र), षड्विध कूटनीति (संधि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय, द्वैधीभाव), चतुर्विध उपाय (साम, दाम, दण्ड, भेद) त्रिविध शक्तियाँ (प्रभुशक्ति, मंत्र शाक्ति, उत्साह शक्ति) इन सब सिद्धान्तों का उद्देश्य एक शक्तिशाली व केन्द्रीकृत राजतंत्र की स्थापना के साथ–साथ प्रजा में राजभक्ति को जागृत करना रहा है। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों का विवेचन यहाँ किया जा रहा है –

16.2.1 सप्ताङ्ग. सिद्धांत

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में राज्य की तुलना शरीर के अंगो से की है, क्योंकि शरीर में प्रत्येक अंग का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में राज्य के सात अङ्गों का भी उसी प्रकार महत्व है। यह शारीरिक अवयवों के रूप में प्रचलित सिद्धान्त वैदिक काल से चला आ रहा है, ऋग्वेद में विराट् पुरुष के चार अङ्गों से चार प्रकार के व्यक्तियों या वर्गों की बताया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी राज्य के अङ्गों की मानव शरीर से की गई है।

महाभारत में राज्य को सात अङ्गों युक्त बताया है ये–आत्मा, अमात्य, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद, पुर है।

आत्मामात्याश्च कोषाश्च दण्डोमित्राणि चौवहि।
तथा जनपदाश्चौव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः।।

यद्यपि महाभारत में ही इन अंगों के क्रम में भी भिन्नता मिलती है, जहाँ स्वामी अर्थात् राजा को सबसे अन्त में रखा गया है। इसी प्रकार रामायण में भी राज्य के सात अंग– राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर, दण्ड और मित्र को माना है।

शक्राचार्य ने भी राज्य के सप्तांगों का वर्णन करते हुए स्वामी, अमात्य, सुहन्त, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड को राज्य का अंग माना है।

''स्वाम्यमात्य सुद्धत्कोष राष्ट्र दुर्ग बलानि च संरतांगमुच्यते'' मनु ने राज्य के सप्ताङ्गों के विषय में कहा है –**स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्र कोष दण्डो सुद्धतस्तथा**

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के इन सात अङ्गों को स्वीकार किया है–

स्वाम्यामात्यजनपद दुर्ग कोश दण्डमित्राणि प्रकृतयः।

इसी प्रकार कामन्दकीयनीतिसार तथा नीतिवाक्यमृत में भी सप्ताङ्गों पर विचार मिलता है।

अतः सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन साहित्य में राज्य को शरीर के समान तथा इसे विभिन्न अङ्गों में विभाजित कर इसकी महत्ता को बताया है, कुछ विद्वानों ने इन्हें अङ्ग न कहकर प्रकृति भी कहा है। इनके नाम और क्रम में अवश्य भेद दिखता है, परन्तु तात्पर्य लगभग सभी जगह समान ही है। इन सात अङ्गों का स्वरूप इस प्रकार है

1. **स्वामी (राजा)** : राज्य के सात अङ्गों में राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। शासन व्यवस्था का सही ढंग से संचालन करने तथा मुखिया होने के कारण इसे स्वामी कहा जाता है। स्वामी का अर्थ ही है– अधिपति या प्रधान। यह सम्पूर्ण राजशासन का केन्द्र होता है। इस कारण राजा को राज्य रूपी शरीर का मस्तक कहा गया है। कौटिल्य ने इसे– 'स्वामी', वाल्मीकि ने 'राजा', व्यास ने 'आत्मा' आदि अलग–अलग नामों से संबोधित किया है। राज्य का संचालन करते हुए राजा अपनी सुदृढ़ स्थिति से प्रजा की रक्षा करता है, इसके अभाव में राज्य का अस्तित्व संभव ही नहीं।

   इसलिए कौटिल्य ने राजा के अनेक गुण बताए हैं, यथा– उत्तम कुलोत्पन्न, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, सत्वसम्पन्न, वृद्ध जनों का मान रखने वाला, शीघ्र कार्य करने वाला, उच्च गुणों से सम्पन्न, परामर्शदाता, उच्च अभिलाषा वाला, कृतज्ञ, विनयशील तथा वह शास्त्रों का ज्ञाता होता है। प्रत्येक बात को ग्रहण करने वाला तथा ग्रहण की हुई बात पर विचार कर उसका विशेष ध्यान रखते हुए उस पर तर्क–वितर्क द्वारा अन्तिम निर्णय पर पहुंचना ये राजा के गुण हैं। अतः कौटिल्य के अनुसार आत्म सम्पन्न राजा अपनी गुणहीन प्रकृतियों को भी गुणी बना लेता है तथा आत्मसम्पन्नहीन राजा अपने समृद्ध गुणों को भी नष्ट कर देता है।

   अतः राजा ही राज व्यवस्था को मर्यादा में रखने का कार्य करता है। यह करते हुए वह अपने स्वधर्म का ही पालन करता है। जिसके लिए वह धर्मानुसार दण्ड को भी धारण करता है, क्योंकि दुष्टों को दण्ड देते हुए प्रजा का पालन करना उसका परम कर्त्तव्य है। यहाँ धर्मानुसार से अभिप्राय है कि वह निरकुंश और स्वेच्छाचारी भी न बने, क्योंकि बिना नियम और धर्म के चलने वाला राजवंश स्वयं अपना सर्वस्व खो देता है। राजा को नियमपूर्वक व्यवस्था को बनाए रखते हुए प्रजापालन का कार्य करना चाहिए। इसलिए कौटिल्य ने कहा है कि राजा इतने महत्वपूर्ण पद पर कार्य करते हुए भी मात्र ध्वज ही होता है –

   ''ध्वजमात्रः अयं भवन्तः स्वस्वामिनः।''

   शतपथ ब्राह्मण के अनुसार – ''राजा प्रजापति है, वह अकेला है, किन्तु बहुतों पर राज्य करता है।'' यहाँ राजा को प्रजापति रूप में स्वीकार किया है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार विराजमान रहने के कारण ही लोग राजा के नियंत्रण में रहते हैं। भीष्म पितामह के अनुसार भी राजा में दैवी गुण ही मुख्य कारण है, जिससे वह देश पर शासन करने की क्षमता रखता है। राजा को दैवी गुणयुक्त मानने का कारण यह है कि देवताओं द्वारा राजा के पद पर स्थापित हुआ मानकर, कोई भी साधारण पुरुष उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा।

2. **अमात्य** : राज्य के सप्त अङ्गों में एक अंग अमात्य है, जिसे मंत्री या सचिव भी कहा जाता है। कुछ स्थानों पर अमात्य, मंत्री, सचिव शब्दों के साथ कार्यशैली का अन्तर भी दिखाई पड़ता है। परन्तु हर जगह पर यह राजा का परामर्शदाता और उसके विचारकों के रूप में रहता है। राजा का कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत होने के कारण उसे राजकार्य भली–भाँति सम्पादित करने हेतु अमात्य की आवश्यकता

पड़ी। सर्वप्रथम अमात्य शब्द ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ इसे विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। ऐतेरय ब्राह्मण में इंद्र द्वारा मरूतों को सचिव के रूप में मानने का प्रसंग मिलता है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में अमात्य शब्द का अभिप्राय है– मंत्री। यहाँ कहा गया है कि राजा को अपने गुरुओं और अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक नहीं जीना चाहिए।

''गुरुनमात्यांश्चौव नातिजीवेत्''

भारद्वाज के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों में से जो चरित्र, कार्य शक्ति और ज्ञान युक्त हो, उसे अमात्य नियुक्त करना चाहिए।

सहाध्यायपिनोऽमात्यान्कुर्वीत दृष्टीशौच सार्थ्यत्वादिति भारद्वाजः।
ते ह्यस्थ विश्वास्या भक्तीते।।

अमात्य राजा के समान ही छिपे हुए के समान व्यवहार करने वाला न्योछावर होना चाहिए। वह राजा को विपत्तियों से बचाने के लिए अपने प्राणों को भी न्योछावर करने वाला हो। वह नीतिशास्त्र में निपुण होना चाहिए। यह सब विशेषताएँ इसलिए आवश्यक है, क्योंकि वह राजा की परछाई की होता है। राजा के हर विचारे गए कार्य को सम्पादित करने का दायित्व उस पर होता है तथा यही राजा को प्रत्येक प्रकार का परामर्श देता अमात्य का कुशल होना बहुत आवश्यक है।

अर्थशास्त्र में अमात्य शब्द और मंत्री शब्द में अन्तर प्रतीत होता हैं। यहाँ मंत्री शब्द कर्मचारी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अनुसार व्यक्ति के सामर्थ्य का पता उसके द्वारा किए कार्यों तथा उसकी बुद्धि, विद्या और बल के आधार पर ही किया जाता है। अतः राजा को पूर्णतया विचार करके ही विद्या, बुद्धि, बल, साहस, गुण, दोष, देश–काल, पात्र का निरिक्षण करके ही अमात्य पद पर किसी को नियुक्त करना चाहिए। महाभारत के अनुसार राजा को योग्य पुरुष को सचिव बनाना चाहिए। इसके लिए उसे उसके कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान, ज्ञान–विज्ञान में निपुण, कृतज्ञ, बलवान, जितेन्द्रिय, अपने देश के निवासी, निर्लोभी, स्वामी की उन्नति चाहने वाले, कुशल, मन को वश में रखने वाला, संयमी, नीति कुशल, स्नेही, धीर, शूरवीर, महान, ऐश्वर्य सम्पन्न, काल के अनुसार कार्य करने वाले पुरुष का चुनाव करना चाहिए। क्योंकि राज्य का नीति–निर्धारण तथा कार्यान्वयन कार्य उसकी सोच–समझ पर भी निर्भर करता है। यदि वह राजा को उचित परामर्श देने वाला नहीं होगा, तो राज्य को अधो–गति तक पहुँचा सकता है।

3. **जनपद :** राज्य का अगला महत्वपूर्ण अंग जनपद है। इसका शब्दिक अर्थ है – जन अर्थात् लोगों का रहने का स्थान। कौटिल्य ने इसे जनपद सम्पति नाम दिया है। मोर्योत्तर ग्रन्थों में इसे राष्ट्र के नाम से उल्लेखित किया गया है। मनुस्मृति, शुक्राचार्य, कामन्दक ने अनेक जगह जनपद के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है। ऋग्वेद में भी राष्ट्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। राष्ट्र का अभिप्राय भी किसी भू–भाग में बसने वाले लोगों का समूह ही है। अतः राष्ट्र और जनपद में कोई विशेष अलग बात नहीं हैं। अनेक जगह राष्ट्र शब्द एक बड़े भू–भाग के लिए प्रयोग हुआ है, जबकि जनपद एक छोटे भू–भाग पर लोगों के समूह के रूप में।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में जनपद के लक्षणों को बताया है कि जनपद के मध्य और अन्तिम सीमाओं पर दुर्ग बने होने चाहिए ताकि आवश्यकता के अनुसार उसमें रहने वाले निवासियों तथा बाहर से आने वाले व्यक्तियों के भी रहने और

खाने की व्यवस्था हो सके। इसमें नदियाँ और पर्व भी होने चाहिए ताकि बाहरी आक्रमण से भी रक्षा की जा सके। यहाँ की भूमि ऊसर, विषम, कंकड़ युक्त, सर्प आदि जहरीले जन्तुओं से रहित होनी चाहिए, जनपद की जलवायु प्राणियों के लिए उपयोगी होनी चाहिए, यहाँ गोचर भूमि भी होनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार उत्तम वर्ण, परिश्रमी, बुद्धिमान, राजभक्त, पवित्र आचरण से युक्त जनपद सबसे उत्तम माना जाता है। कौटिल्य के अनुसार जनपद की सबसे छोटी ईकाई ग्राम है। भीष्म ने भी जनपद व्यवस्था बताई है, जहाँ ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्त्र ग्रामों के संगठन को उसी अनुसार क्रमशः ग्रामिक, दशग्रामाधिपति, विंशत्याधिपति, शतग्रामाधिपति एवं सहस्र ग्रामाधिपति की नियुक्ति की जाती थी।

इस प्रकार ग्राम किस प्रकार, कहाँ और कैसे बनाए जाएं? यह व्यवस्था भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में बताई है। उसके अनुसार जनपद के एक अथवा दो कोस के अंतर पर ग्राम की स्थापना की जानी चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य ने जनपद की विस्तृत व्याख्या की है, जो अन्य विचारकों की अपेक्षा पर्याप्त और नवीनता के साथ अर्थशास्त्र के अष्ठम अधिकरण में प्राप्त होती है। इस व्यवस्था को वर्तमान समाज व्यवस्था के जिले के समान प्रशासनिक ईकाई के रूप में माना जा सकता है।

4. **दुर्ग** : राज्य का चौथा प्रमुख अंग दुर्ग है, जिसे किला भी कहा जाता है। यह ब्राह्य आक्रमण से संरक्षण का एक प्राकृतिक व कृत्रिम उपाय होता है। कौटिल्य की सप्ताङ्ग परिभाषा में दुर्ग का अभिप्राय है– राजधानी। उन्होंने दुर्ग निर्माण तथा उसकी सीमा के अन्दर बनाए जाने वाले भवन आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। जहाँ अन्न, ईधन, नमक, पानी, बारूद आदि की पूर्ण व्यवस्था की जाती थी, ताकि आक्रमण करने या आक्रमण होने पर अपनी सुरक्षा की जा सके। इसके लिए अर्थशास्त्र में चार प्रकार के दुर्ग मिले हैं– (1) औदिक दुर्ग, (2) पार्वत दुर्ग, (3) धान्वन दुर्ग, (4) वन दुर्ग। इनमें औदिक और पर्वत दुर्ग शत्रु पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने का हेतु होते थे अर्थात इनमें राजा और प्रजा दोनों की रक्षा होती थी। धान्वन और वन दुर्ग शत्रु से छिपने का स्थान था, जहाँ राजा की अप्रत्यक्ष रूप से रक्षा होती थी।

अतः राज्य और राजा की सुरक्षा हेतु दुर्ग का विशेष महत्व महाभारत क शांति अनुसार राजा को छः प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर निवास करना चाहिए – धन्व दुर्ग, मही दुर्ग, मनुष्य दुर्ग, जल–दुर्ग और वन दुर्ग। इनमें धन्व दुर्ग के चारों ओर बालू मिट्टी का घेरा होता है। जो पर्वत मालाओं से घिरा हुआ है वह मही दुर्ग। जिसके चारों ओर जल हो वह जल–दुर्ग। जिसके चारों ओर कांटे–बांस आदि हो वह वन दुर्ग तथा फौजी किले का नाम मनुष्य दुर्ग है। यहाँ दुर्गाधिकारी की नियुक्ति ऐसे व्यक्ति की करनी चाहिए, जो युद्धादि में निपुण हो।

कौटिल्य का मत है कि दुर्ग को सुविधानुसार छोटे–छोटे भागों में बाँटना चाहिए, मुख्य रूप से इसे चार भागों में बांटना चाहिए तथा हर भाग में एक कर्मचारी की नियुक्ति करनी चाहिए, जिन्हें स्थानिक नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार कौटिल्य ने दुर्ग में एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की।

5. **कोष (कोश)** : कौटिल्य के अनुसार राज्य संचालन के कार्यों का आधार कोष होता है, इसलिए राजा को राज्य संचालन के लिए कोष पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। उनके अनुसार राजकोष की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिसमें पूर्वज

राजाओं के साथ–साथ अपने द्वारा संचित की गई आय भी हो। जिसमें धन, स्वर्ण, चाँदी, बहुमुल्य रत्न आदि होने चाहिए, जिससे विपत्ति पड़ने पर प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो सके। इसलिए राजा को इसके विवर्धन का प्रयास करते रहना चाहिए, क्योंकि कोष से ही राजा को सेना तथा भूमि प्राप्त होती है।

महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार जिस प्रकार पर्वत से नदियाँ बहती हैं, उसी प्रकार धन से सब शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है।

कौटिल्य ने कोष वृद्धि के नौ मूल आधार बताए है––

1. **प्रचार समृद्धि** : जब राज्य के निवासी सम्पन्न व्यक्ति हो, क्योंकि वे राजकोष की वृद्धि के लिए धन देने में समर्थ होते हैं।
2. **चरित्रानुग्रह** : राज्य के निवासियों का आचरण शुद्ध होना चाहिए, ताकि समय पर कर प्राप्ति हो सके।
3. **चोर निग्रह** : चोरों का दमन करने की आवश्यकता होती है, ताकि कोष को नुकसान न हो।
4. **युक्त प्रतिषेध** : पर्याप्त से अधिक राजकर्मचारियों की नियुक्ति पर प्रतिषेध करना चाहिए।
5. **शस्य सम्पति** : राज्य शस्य यानि अन्न संपति से सम्पन्न हो जिससे व्यापार में भी निरन्तर वृद्धि हो।
6. **उपसर्ग प्रमोक्ष** : धन–जन विनाश करने वाली बाह्य व आन्तरिक आपदाओं से राज्य को मुक्त रखना।
7. **परिहारक्षय** : प्रजा को ऋण धीरे–धीरे राज्य को पुनः वापस कर देना चाहिए।
8. **हिरण्योपायनम्** : राजा को सदैव सोने का संग्रह करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य ने विस्तार पूर्वक कोष वृद्धि के उपाय बताए हैं, इसके साथ–साथ कोष–क्षय के भी आठ कारणों का भी उल्लेख किया है। इन उपायों से ही राजा अपने कोष वृद्धि कर प्रजापालन करने में सक्षम बनता है। परन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि राजा को यह धन धर्मपूर्वक ग्रहण करना चाहिए न कि प्रजा को पीड़ा देकर।

6. दण्ड : राज्य के सात अंगों में सेना और बल को विशिष्ट स्थान प्राप्त है, कौटिल्य ने इसे ही दण्ड कहा है। उन्होंने इसे शक्ति नाम से सम्बोधित किया है और तीन प्रकार की शक्ति मानी है –

(1) मंत्र शक्ति (2) प्रभु शक्ति (3) उत्साह शक्ति। (ज्ञानबलं मत्रशक्ति) यहाँ ज्ञान बल को मंत्र शक्ति, सैन्य बल को प्रभु शक्ति तथा विक्रम या वीरता को उत्साह शक्ति माना है। इन तीनों बलों से हीन राजा दुर्बल राजा होता है। कौटिल्य का दण्ड से अभिप्राय–सैन्य बल से है। शुक्राचार्य ने दण्ड के स्थान पर बल शब्द का ही प्रयोग किया है। कामन्दक ने भी बल शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ बल से अभिप्राय है– सेना। अर्थशास्त्र के अनुसार सेना ऐसी होनी चाहिए, जो वंशानुगत होने के साथ–साथ स्थायी तथा राजा के अधीन रहने वाली हो। इसके साथ–साथ सैनिकों का परिवार भी सन्तुष्ट होना चाहिए। राजा को अपनी सेना में कुशल सैनिकों का चयन करना

चाहिए। इसीलिए कहा है कि क्षत्रियों की सेना दण्ड सम्पन्न होती है।

क्षत्रपाय इति दण्डसम्पत्

इस प्रकार अर्थशास्त्र में दण्ड का प्रयोग राजा की शक्ति को मजबूत रखने के लिए हुआ है। महाभारत में पाण्डव कहते हैं कि वे साम, दाम और भेद से राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अन्यथा अन्तिम रूप से युद्ध (दण्ड) ही उनका प्रधान कर्तव्य होगा। कौटिल्य के अनुसार सेना छः प्रकार की होती है – बल, भृत बल, श्रेणी बल, शत्रु बल, मित्र बल और अटवी बल।

इस प्रकार कौटिल्य ने दण्ड व्यवस्था को राजसत्ता के महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार करते हुए राजा हेतु अनुशासन युक्त बल की कामना की है।

7. मित्र : राज्य के सात महत्वपूर्ण अंगों में मित्र को भी महत्वपूर्ण अंग माना है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों के अनुसार जैसे राजा के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही बिना मित्र के राज्यों की कल्पना असम्भव है। इस पक्ष को आधुनिक राजनीतिज्ञ भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि एक आदर्श राजा सदैव अपने मित्रों के साथ होता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह उनसे सहायता ले सके तथा उनको आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता कर सके।

प्राचीन राजनैतिक प्रणली में **''मत्स्य न्याय''** का सिद्धान्त अपनाया जाता था अर्थात् जिस प्रकार छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बड़े राज्य भी छोटे राज्यों का दमन करते थे। इस स्वाभाविक स्थिति से मुक्ति हेतु एक राज्य दूसरे राज्य की सहायता करता था अर्थात् वे आपस में मित्रवत् संबंध रखते थे। इसी सिद्धान्त को **''मण्डल–सिद्धान्त''** नाम दिया गया। यह सिद्धान्त राज्यों में शक्ति सन्तुलन का कार्य करता था, जिसमें आवश्यकता पड़ने पर एक राज्य अपने मित्र राज्य की सहायता करता था इसी कारण कहीं–कहीं मित्र के लिए सुदद्ध शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

कौटिल्य ने तीन प्रकार के मित्र माने है– प्रकृति मित्र, सहज मित्र और कृत्रिम मित्र। शत्रु राज्य की सीमा से लगे राज्य, तथा अपनी सीमा से लगे राज्यों को कौटिल्य ने प्रकृति मित्र की संज्ञा दी है। माता–पिता से सम्बन्धित राजा को सहज मित्र तथा धन और जीवन की रक्षा के लिए किसी अन्य राजा का आश्रय लेने को कृत्रिम मित्र माना है। इसी प्रकार महाभारत में भी चार प्रकार के मित्रों का उल्लेख है–

सहार्थ : जो शर्त पर एक दूसरे की सहायता के लिए मित्र बने।

भजमान : जो परम्परागत वंश संबंध से मित्र हो। सहज रूप से जो जन्म से या विद्या अध्ययन से घनिष्ठ मित्र बन गए हो।

कृत्रिम : जीवन रक्षा या आश्रय हेतु जो मित्र बन गया हो।

यहाँ भीष्मपितामह ने सहज और भजमान मित्र को श्रेष्ठ श्रेणी में रखा है। शेष दोनों से राजा को सदैव सचेत रहना चाहिए।

अतः राजा को वंशपरम्परागत, स्थायी और अपने वश में रहने वाले विद्वान, सम्पन्न व्यक्ति, जिससे विरोध की सम्भावना न हो तथा जो प्रभु शक्ति, मंत्र शक्ति और उत्साह शक्ति से सम्पन्न हो ऐसे व्यक्ति को मित्र बनाना चाहिए।

निष्कर्ष : उपर्युक्त समस्त समीक्षा से पता चलता है कि राज्य के लिए किसी एक

साधन की ही आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अंग मिलकर ही कार्य संपादन कर सकते हैं, किसी भी एक अंग के अभाव की स्थिति में व्यक्ति विकलांग कहलाता है या कोई भी एक अलग होने पर उसका कोई महत्व नहीं रहता, उसी प्रकार राज्य के सात अंग हैं। जिनका अपना–अपना महत्वपूर्ण स्थान है तथा इनके आप सहयोग से ही राज्य को स्थाई अस्तित्व प्राप्त होता है। इन्हीं से राज्य का सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से चलता है।

कौटिल्य के अनुसार राजा इसका महत्वपूर्ण स्तम्भ है, क्योंकि राजा द्वारा ही अन्य लोगों को स्वस्थ रखने का कार्य किया जाता है। अगर राजा श्रेष्ठ गुणों से युक्त नहीं होगा, तो राज्य का संचालन भी उचित प्रकार से नहीं हो सकेगा। यदि राजा ही गुणों से युक्त न हो तथा अन्य अंग स्वस्थ हो तो ऐसा राज्य नहीं चल सकेगा। इसीलिए कौटिल्य ने स्वयं राजा को ही राज्य माना है। परन्तु उन्होंने अन्य अंगों को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने किसी न किसी रूप में इन सप्त अंगों की चर्चा की है, परन्तु कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के माध्यम से सर्वप्रथम इन्हें जीवन्त रूप प्रदान किया। अतः कौटिल्य ने इन सभी अंगों पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हुए इनके महत्व को स्पष्ट किया है।

16.2.2 मण्डल सिद्धांत

प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था का महत्वपूर्ण विचार है मण्डल सिद्धान्त अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों पर आधारित यह वह सिद्धान्त है जो एक राज्य को उसकी भौगौलिक स्थिति के आधार पर विजिगीषु राज्य का मित्र अथवा शत्रु बनाता है। मण्डल सिद्धान्त का उद्‌भव कहाँ से हुआ उस विषय में ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। वैदिक वाड्.मय में मण्डल सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। मनुस्मृति और महाभारत में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। मण्डल सिद्धान्त का सर्वाधिक विशद् चित्रण तथा राज्य के अस्तित्व और सुरक्षा हेतु इसके महत्व का उल्लेख कौटिल्यार्थशास्त्र में प्राप्त होता है। कौटिल्य ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए, वे केवल तत्कालीन ही नहीं अपितु सर्वकालीन व्यवस्थाओं के लिए उपादेय हैं।

मण्डल सिद्धान्त के अन्तर्गत केन्द्र में एक विजिगीषु राजा होता है। 'विजिगीषु' वह राजा है जो विजय की अभिलाषा रखता है और विजय प्राप्त करता है। कामन्दक के नीतिसार में विजिगीषु को परिभाषित किया गया है– ''जो अपने राज्य का विस्तार करना चाहता है जो राज्य के सप्त प्रकृति से सम्पन्न है, महोत्साही है, जो राज्य उद्योगशील है वह विजिगीषु कहलाता है–

सम्पन्नस्तु, प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः।
जेतुमेशणषीलष्च विजिगीशुरिति समृतः।।

कामन्दकीय नीतिसार 8/61

प्राचीन भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों में दुर्बल राजाओं को पराजित कर विजयाकांक्षी होना राजा का आदर्श माना गया है। कौटिल्य का मानना है कि जो राजा अपने राज्य का विस्तार चाहता है, चाहे राज्यों को पराजित अथवा जीतकर, उसे शत्रु राज्यों की अपेक्षा अपने मित्रों की संख्या बढ़ानी चाहिए, ताकि वह शत्रु राज्यों को नियन्त्रण में रख सके। दूसरी ओर दुर्बल राज्यों को अपने सबल राज्यों से सदा सचेत रहना चाहिए। राज्यों

को अपने समतुल्य राजाओं के साथ मित्रवत् व्यवहार रखना चाहिए तथा सभी समतुल्य राजा एक 'मण्डल' बनाकर रखें ताकि वे 'अतिशक्तिशाली' राज्यों की राज्यविस्तार की महत्वाकांक्षाओं से स्वयं को सुरक्षित रख सकें।

मण्डल सिद्धान्त में प्रमुख रूप से चार प्रकार के राज्य होते हैं– 'मित्र', 'शत्रु', 'मध्यम' तथा 'उदासीन'। इस सिद्धान्त का मूल आधार है दो पड़ोसी राज्य, जिनकी सीमा परस्पर मिलती है, एक दूसरे के सहज शत्रु होते हैं। यद्यपि कुछ परवर्ती राजनीतिकारों का मानना है कि पड़ोसी राज्य सदा शत्रु हों ऐसा नियम नहीं और न ही आवश्यक है कि राज्य से सम्बन्ध राज्य विजिगीषु का सदा मित्र ही हो। पी0 वी0 काणे का मानना है कि सान्निध्य और दूरी 'शत्रुता' अथवा 'मित्रता' का कारण नहीं होता अपितु उद्देश्य उनका कारण होता है। फिर भी राज्य सीमा से निकट राज्य को 'अरि' (शत्रु) कहा गया है। राजनीतिक चिन्तकों ने चार प्रकार के यातव्य, उच्छेद्य, पीडनीय एवं कार्शनीय नामक शत्रुओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार 'शत्रु' एवं 'मित्र' के सहज, कृत्रिम एवं प्राकृत तीन प्रकारों का भी उल्लेख हैं। शत्रु राज्य के पश्चात् वाला राज्य स्वाभाविक रूप से 'मित्र' होता है। जिस राज्य की सीमाएँ शत्रु और मित्र दोनों राज्यों से मिलती हैं वह 'मध्यम' राज्य कहा जाता है। 'उदासीन' राज्य इन तीनों से कुछ दूर स्थित रहता है। साधारणतः मण्डल के अन्तर्गत 12 राज्य होते हैं। इन राज्यों के अग्रभाग में स्थित जिस राजा की सीमा उसके राज्य से मिलती है उसे 'अरि' अथवा 'शत्रु' कहा जाता है। तत्पश्चात् क्रमशः 'मित्र' 'अरिमित्र', 'मित्र–मित्र' तथा 'अरिमित्र मित्र' राजाओं के राज्य होते हैं। इसी प्रकार विजिगीषु के पृष्ठभाग में भी शत्रु और मित्र की परम्परा होती है। अग्रभाग के शत्रुओं और मित्रों में भिन्नता प्रकट करने के लिए उनके नाम भिन्न रूप से दिए गए हैं। यथा विजिगीषु के पृष्ठ भाग में स्थित राज्य को 'पार्ष्णिग्राह' कहा जाता है। तदन्तर क्रमशः 'आक्रन्द' 'पार्ष्णिग्राहासार' तथा आक्रन्दासार होते हैं। इस प्रकार विजिगीषु तथा उसके अग्रभाग के पाँच और पृष्ठ भाग के चार राजा मण्डल के अंग माने जाते हैं। इस प्रकार मण्डलस्थ राजाओं की संख्या 12 होती हैं। कौटिल्य ने 12 राज्यों के साथ के अवयवों का भी उल्लेख किया हैं। ये अवयव हैं– तीन मूल प्रकृति (विजिगीषु उसका मित्र, तथा मित्रमित्र) और इनमें प्रत्येक अर्थात् विजिगीषु, उसके मित्र, और मित्रमित्र की पाँच प्रकृतियाँ अमात्य, कोश, दुर्ग, बल और जनपद (राश्ट्र)। इसे विजिगीषु मण्डल कहा गया है। ऐसे ही मण्डल 'अरि' 'मध्यम' तथा 'उदासीन' राजाओं के भी बताए गए हैं। कौटिल्य ने 'मण्डल' की तुलना चक्र से की है अर्थात् विजिगीषु उस मण्डलरूपी चक्र की नाभि है और उसके मित्र उसकी नाभि तथा विजिगीषु के शत्रु उस चक्र के अरे हैं। मनुस्मृति तथा महाभारत में भी राजतत्वों (अमात्य, कोश, दुर्ग, बलादि) को मण्डल के बारह सदस्यों से मिलाकर संख्या बताई है।

इस प्रकार राज्यों के चार प्राथमिक रूप से मण्डल बनते हैं– 12 राज्य और प्रत्येक राज्य के छः तत्वों (स्वामी, अमात्य, जनपद, कोश, दुर्ग, बल) से 'मण्डल' के 72 अवयव निर्मित होते हैं। ये चार मण्डल निम्न प्रकार से व्याख्यायित किए जा सकते हैं–

- प्रथम मण्डल – विजिगीषु (केन्द्र राज्य), उसके मित्र, तथा मित्रमित्र राज्य।
- द्वितीय मण्डल – (विजिगीषु) का अरि (केन्द्र राज्य), अरिमित्र तथा अरिमित्रमित्र राज्य।
- तृतीय मण्डल – मध्यम राज्य (केन्द्र राज्य) मध्यममित्र, मध्यममित्र मित्र राज्य।
- चतुर्थ मण्डल – उदासीन राजा (केन्द्र राज्य) उदासीनमित्र, उदासीनमित्रमित्र राज्य।

16.2.3 'षाड़गुण्य' सिद्धांत

राजनीति के लिए छः गुणों की आवश्यकता होती है, जो राजा की स्थिति को दृढ करने में सहायक होते हैं, इसी से राज्य को उन्नति, प्रसार के साथ–साथ सुरक्षा प्राप्त होती है। ये षड्विध उपाय अपने पड़ोसी शत्रु तथा मित्र दोनों के साथ अपनाए जाते हैं। इसलिए राजा को इन छः 'षाड्गुण्य' संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव से राज्य का रक्षा करनी चाहिए। मनु के अनुसार भी राजा को इन छः गुणों का प्रयोग कर चाहिए। रामायण में इन्हें छः युक्तियाँ कहा गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय सब में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। पुराणों में भी राजा से अपेक्षा की गई है कि वह इन छः गुणों में निपुण हो इसकी शिक्षा राजा को बाल्यावस्था से ही दी जानी चाहिए।

महाभारत के अनुसार राजा को अपने आस–पास व दूर स्थित राज्यों की अधीनता को बनाए रखना है, तो उसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय इन छः गुणों का यथावसर प्रयोग करना चाहिए। शान्तिपर्व में कहा गया है कि इन छः गुणों को अच्छी प्रकार से जानने वाला राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का उपभोग कर सकता है।

कौटिल्य, शुक्राचार्य, कामन्दक ने भी इन गुणों के चिन्तन को परम आवश्यक माना है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में राजनीति को 6 गुणों वाली बताया है। कौटिल्य ने इन षड्गुणों के प्रयोग के प्रत्येक सिद्धान्त का उल्लेख किया है। उनके अनुसार शत्रु मजबूत हो तो संधि कर लेनी चाहिए। स्वयं के बलवान होने पर विग्रह करना चाहिए। शत्रुबल आत्मबल समान हो तो आसन अपनाना चाहिए। शत्रु की तुलना में स्वयं अशक्त होने पर संश्रय से काम लेना चाहिए। यदि स्वयं को शत्रु से थोड़ा निर्बल समझे तो सन्धि और विग्रह दोनों का साथ में सहारा लेते हुए द्वैधीभाव को अपनाना चाहिए। अब इनका सविस्तार वर्णन करते हैं –

1. संधि : राजनीति में सदैव से संधि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कौटिल्य के अनुसार राजा को युद्ध के समय अपनी स्थिति शत्रु से कमजोर लगे तो पहले संधि करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन शर्तों पर एक राजा का दूसरे राजा से मेल होता है, उसे सन्धि कहते हैं। भारवि ने भी यही लिखा है कि अपने से बलवान शत्रु के साथ संधि करनी चाहिए।

कौटिल्य ने संधि के 16 भेदों का उल्लेख किया है, ये हैं– (1) कपाल (2) उपहार (3) सन्तान (4) संगत (5) उपन्यास (6) प्रतीकार (7) संयोग (8) पुरुषन्तर (9) अदृष्टनर (10) आत्ममिष (11) उपग्रह (12) परिक्रय (13) अदिष्ट (14) उच्चिन्न (15) परिभूषण (16) स्कन्धोपनेय। इन्हीं सोलह भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए कामन्दक ने 20 भेद बताए है। इस प्रकार कौटिल्य ने राजा के द्वारा सन्धि किए जाने की प्रत्येक परिस्थिति का वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि राजा को अगर यह लगता है कि वह सन्धि करके बड़े–बड़े कार्य या शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकेगा, तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिए तथा शत्रु से संधि करने के उपरान्त शत्रु का विश्वासपात्र बनकर उसकी गुप्तचर व्यवस्था में सेंध लगानी चाहिए तथा स्वयं की स्थिति दृढ दिखने पर शत्रु का नाश कर देना चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य ने सन्धि उसी अवसर पर उपयुक्त मानी है, जब उसका शत्रु सबल हो और उसे हानि पहुँचाने की स्थिति में हो। इस प्रकार राजा शत्रु से मिलकर उसकी शक्ति को हीन करने का कार्य करे तथा शत्रु के साथ सन्धि होने पर भी उसका विश्वास न करे। कौटिल्य ने मुख्य रूप से तीन प्रकार की संधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है –

1) **दण्डोपनत सन्धि** : यह भी तीन प्रकार की होती है :

   i) **अमिष सन्धि** : जब राजा सबल शत्रु को कथनानुसार सेना और धन देकर समर्पण करे।

   ii) **पुरुषान्तर सन्धि** : जब सेनापति या राजकुमार को संदेश दें शत्रु की सेना में पेश किया जाता है, यहाँ राजा स्वयं शत्रु के दरबार में जाने से अपनी रक्षा करता है। इसे आत्मरक्षण सन्धि भी कहते हैं।

   iii) **अदृष्ट पुरुष सन्धि** : जब शत्रु के कार्यसिद्धि हेतु राजा कहता है कि मैं अकेला ही जाऊँगा या मेरी सेना ही जायेगी। इस सन्धि में मुख्य सैनिकों.या राजा की रक्षा हो पाती है। इसे दण्डमुख्यात्मक रक्षण सन्धि भी कहते हैं।

2) **कोशोपनत सन्धि** : इसके भी चार भेद बताए है –

   i) **परिक्रम्य संधि** : जब राजा द्वारा शत्रु से अपने अमात्य आदि जनों को धन देकर छुड़ाया जाए।

   ii) **उपग्रह संन्धि** : जब स्वयं राजा के पास इतना धन न हो की वह सन्धि कर पाए, तो उस धन की अदायगी किस्तों में देने की शर्त पर यह सन्धि की जाती है।

   iii) **सुवर्ण सन्धि** : नियत समय पर धनराशि देने को सुवर्ण सन्धि या कन्यादान सन्धि भी कहा जाता है।

   iv) **कपाल सन्धि** : जब धनराशि तत्काल अदायगी की शर्त हो।

3) **देशोपनत सन्धि** : इसे भूम्युपनत सन्धि भी कहते हैं, यह चार प्रकार की होती है–

   i) **अदिष्ट सन्धि** : भूमि का कुछ भाग देकर की जाती है।

   ii) **उच्छिन्न सन्धि** : राजधानी व दुर्गों को छोड़कर सारहीन भूमि शत्रु को दे देना।

   iii) **अपक्रय सन्धि** : भूमि की पैदावार या फसल को देकर जब भूमि छुड़ा ली जाए।

   iv) **परदूषण सन्धि** : जब भूमि की पैदावार के साथ और राशि भी देनी पड़े तो इसे परदूषण सन्धि कहते हैं।

इसके अतिरिक्त भी अन्य सन्धियों पर विचार किया गया है यथा सम सन्धि, विषम सन्धि, परिपणित सन्धि, अति सन्धि, भूमि सन्धि, कर्म सन्धि ।

अतः युद्ध की विनाशकारी स्थिति से बचने के लिए सन्धि का प्रयत्न किया जाता है।

2. विग्रह : विग्रह का शाब्दिक अर्थ है – वैर अर्थात् विग्रह के द्वारा राजा अपने शत्रु के अपकार करने में लग जाता है। कौटिल्य के अनुसार भी शत्रु का अपकार या विरोध करना विग्रह कहलाता है। नीतिवाक्यामृत के अनुसार शत्रु की हानि और हिंसा करना ही विग्रह है। विग्रह सदैव अपने से न्यून शक्ति वाले से करना उचित है। अग्निपुराण कार के अनुसार विजिगीषु राजा को अपने अभ्युदय की कामना रखते हुए, अनुकूल परिस्थिति, सैनिक, सम्पन्न, शक्ति के साथ तथा जब शत्रु की परिस्थितियाँ इसके विपरीत हो तो विग्रह करना चाहिए। कामन्दकी के अनुसार दो क्रोधित व्यक्तियों का आपस में अपकार में लग जाना ही विग्रह है।

कौटिल्य के अनुसार शत्रु की निर्बल स्थिति में विजिगीषु राजा को अपनी युद्ध व्यवस्थाएँ पूर्ण करते हुए विग्रह करना चाहिए यदि आवश्यकता पड़े तो विग्रह से पूर्व राज्यमण्डल के मित्र राज्यों से सहायता भी प्राप्त की लेनी चाहिए। यदि राज्य में आयुधजीवी कृषक अधिक है, पहाड़, नदी जगंल, किले तथा आने–जाने का एक ही मार्ग है जिससे शत्रु का प्रतिकार करने में मेरा देश समर्थ है, तो ऐसे शत्रु पर विग्रह करना चाहिए।

विग्रह के समय राजा को उत्साह शक्ति, प्रभु शक्ति, तथा मंत्रशक्ति इन तीनों शक्तियों से युक्त होना चाहिए यहाँ उत्साहित शक्ति से अभिप्राय है आवश्यक नैतिक बला प्रभु शक्ति से अभिप्राय है– अस्त्र शक्ति से सम्पन्न। मंत्र शक्ति से अभिप्राय है– कूटनीति में निपुणता के साथ युद्ध करना। इसके साथ युद्ध के भी तीन प्रकार बताए हैं –

1) **प्रकाश युद्ध** : जब युद्ध को घोषणा के साथ प्रारम्भ किया जाए।

2) **कूट युद्ध** : जब युद्ध की वास्तविक स्थितियों को छुपाकर, यथा–अपनी थोड़ी सेना को भी अधिक दिखाकर तथा शत्रु की गतिविधियों का गुप्तचर व्यवस्था से ध्यान रखते हुए शत्रु की कमजोर स्थिति होने पर उस पर हमला कर देना कूट युद्ध कहलाता है।

3) **तुष्णि युद्ध** : शत्रु का विनाश विष, औषधि या गुप्तचरों के माध्यम से धोखे का प्रयोग करते हुए कर देना, तुष्णि युद्ध कहलाता है।

इस प्रकार राजा को विग्रह गुण का सहारा लेकर शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु इस गुण का आश्रय राजा को तभी करना चाहिए, जब अन्य उपाय काम न करे।

3. आसन : ''उपेक्षणमासनम्'' आसन का अभिप्राय है– युद्ध के उचित अवसर की प्रतीक्षा में अपनी सेना को सन्नद रखना अथवा शत्रु के प्रति उदासीन (तटस्थता) नीति का सहारा लेना। यह स्थिति यान से पूर्व का है। अग्निपुराण में कहा गया है कि जब विजिगीषु और शत्रु दोनों एक–दूसरे की शक्ति का विधात न कर सकने की स्थिति में हो तब आक्रमण न करने की वह स्थिति आसन कहलाती है अर्थात् शत्रु बल तथा आत्मबल में समानता की स्थिति में आसन विधि को अपनाया जाना चाहिए। शुक्राचार्य के अनुसार विजिगीषु राजा को शत्रु की सेना का भेदन करने के लिए गुप्तचर तथा अस्त्रों के माध्यम से घेरा डालकर रखना चाहिए तथा सही समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। कामन्दक ने आसन के पाँच भेद बताए हैं–

(1) विग्रह्यासन (2) सन्ध्यासन (3) सम्भूयासन (4) प्रसंगासन (5) उपेक्षासन।

1. **विगृह्यासन** : जब एक, पक्ष, दूसरे को थोड़ी हानि पहुँचाकर युद्ध से विरत होकर बैठे जाए।

2. **सन्ध्यासन** : जब दोनों पक्ष बलशाली होने की स्थिति में युद्ध छिड़ने पर समान रूप से क्षीण होने लगे तब परस्पर सन्धि करके बैठ जाना।

3. **सम्भूयासन** : जब विजिगीषु और शत्रु को मध्यस्थ से समान रूप से आक्रमण की शंका हो, तब दोनों का मिलकर बैठ जाना।

4. **प्रसंगासन** : जब विजिगीषु राजा शत्रु पर आक्रमण करने की इच्छा रखते हुए भी, किसी विशेष प्रयोजन के लिए अन्यत्र बैठ जाए।

5. **उपेक्षासन** : जब राजा अधिक शक्तिशाली शत्रु की उपेक्षा करके अपने स्थान पर बैठा रहे, तब उपेक्षासन कहलाता है।

इस प्रकार एक प्रकार से ये शीत युद्ध की स्थितियाँ होती हैं कि एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करने की जगह अपने स्थान पर शत्रु का सामना करने को तैयार रहता है।

4. यान : यह आसन के बाद की स्थिति होती है, जब शत्रु पर उसके नाश के लिए आक्रमण किया जाता है, तो यह स्थिति यान कहलाती है। शुक्राचार्य के अनुसार शत्रु के विनाश के लिए अपनी सेनाओं का संचालन ही यान कहलाता है। यान गुण की नीति के लिए राजा को पहले अपनी शक्ति में वृद्धि करने के साथ–साथ शत्रु की शक्ति को क्षीण भी करना चाहिए।

रामायण, महाभारत, पुराण आदि अनेक ग्रन्थों में भी यान के विषय में वर्णन मिलता है। महाभारत के अनुसार शत्रु पर अभियान करने पर निश्चिय ही सफलता प्राप्त होती है। कौटिल्य के अनुसार भी इस नीति को राजा को तभी अपनाना चाहिए, जब अपनी स्थिति सुदृढ़ हो अर्थात् जब राजा आसन की स्थिति में अपने आप को सुदृढ़ बना ले, अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर ले, तब यान का आश्रय लेना चाहिए। जब शत्रु राजा उत्साहहीन हो, व्यसनों से घिरा हो, सेना उसके आदेश का पालन न करे, परस्पर कलह हो, प्रजा विरक्त हो गई हो आदि स्थितियों में भी विग्रह करके यान गुण नीति को अपनाना चाहिए। कामन्दक, शुक्राचार्य, अग्निपुराण आदि में यान के आसन के ही समान पाँच भेद माने हैं –

(1) विग्रहयान (2) सन्धाययान (3) सम्भूययान (4) प्रसंगयान (5) उपेक्षायान

आसन में इन स्थितियों को स्पष्ट कर दिया गया हैं, अतः राजा को इन स्थितियों से गमन करते हुए यान गुण का सहारा लेना चाहिए। अतः राजा को शत्रु को उसी प्रकार वश में करना चाहिए जिस प्रकार स्थल पर मगरमच्छ हाथी के वश में परन्तु जल में हाथी मगरमच्छ के वश में होता है तथा जिस प्रकार रात्रि में कौआ उल्लू के अधीन तथा दिन में उल्लू कौआ के अधीन हो जाता है। उसी प्रकार राजा को देश–काल का विचार करते हुए शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए।

7. संश्रय : **''शक्तिहीनः संश्रयेत्''** विपत्ति की स्थिति में अपने से अधिक बलवान राजा का आश्रय लेना ही संश्रय या समाश्रय कहलाता है। महाभारत के अनुसार यदि राजा को शत्रु से मान–मर्दन की सम्भावना हो तो. अपने दूसरे मित्र की शरण लेनी चाहिए (महा० आश्र० 7.3)। कामन्दक ने असमर्थ राजा के द्वारा कुलीन, चरित्रवान, सत्यशील, बलवान राजा से आश्रय ग्रहण करने को संश्रय कहा है। शुक्राचार्य ने भी इसे आश्रय कहा है।

संश्रयगुण नीति को सबसे अधम माना गया है– **संश्रयस्तेन वक्तव्यो गुणानामधमो गुणः।**

अतः पुराणों के अनुसार संश्रय नीति का आश्रय राजा को तभी लेना चाहिए, जब राजा की स्वयं की शक्ति बिल्कुल नष्ट हो गई हो तथा शरण लेने से अधिक लाभ की संभावना हो। महाभारत में इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार नेवला, उल्लू और शिकारी से बचने के लिए चूहा बिल्ली का आश्रय ले लेता है उसी प्रकार संकट पड़ने पर बलवान पुरुष को भी अपने निकटवर्ती शत्रु से आश्रय या मित्रता कर लेनी चाहिए।

(6) द्वैधीभाव : ''सन्धि विग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति'' द्वैधीभाव का अभिप्राय है– दोहरा आचरण, शत्रु के समक्ष दोहरी नीति का आचरण करना अर्थात् मन में एक प्रकार का भाव तथा बाहर दूसरे प्रकार का भाव रखते हुए कपटपूर्ण नीति का आश्रय लेना। यह द्वैधी भाव अनेक प्रकार से हो सकता है, यथा – ऊपर से शत्रु के प्रति मित्रता प्रकट करते हुए उसके प्रति विश्वास उत्पन्न कर, अवसर पाकर उनका विनाश कर देना अथवा शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करके भी कौए के समान अपनी कूटनीतियों को जारी रखना अर्थात् वह कौए की आँख के समान व्यवहार करते हुए करे कुछ परन्तु दिखाई कुछ ओर ही दे तथा उचित समय पाकर शत्रु का नाश कर दे।

पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे अलग–अलग प्रकार से स्पष्ट किया है, यथा–कामन्दक के अनुसार दो तरह का द्वैधीभाव है–

1) **स्वतंत्र द्वैधीभाव** : जो अपने अधीन रहकर द्वैधीभाव का आश्रय लेता है।

2) **परतंत्र द्वैधीभाव** : जो दूसरे के अधीन रहकर द्वैधीभाव का आश्रय लेता है।

कौटिल्य के अनुसार द्वैधीभाव का अभिप्राय है, एक ही समय में सन्धि और विग्रह दोनों करना अर्थात् एक राजा से सन्धि कर उसकी सेना की सहायता से अपने शत्रु पर विग्रह कर नाश कर देने को द्वैधीभाव कहते हैं। इस नीति में शक्तिशाली राजा से सन्धि कर दुर्बल राजा से विग्रह किया जाता है।

शुक्राचार्य के अनुसार द्वैधीभाव का अभिप्राय है– सेना को दो भागों में बांटकर रखना। राजा तथा प्रजा, सेनापति और मंत्री में फूट डाल देना भी द्वैधीभाव गुण ही है, जिसका आश्रय लेकर शत्रु को असहाय कर दिया जाता है।

महाभारत के अनुसार शत्रु सेना में भेद डालना द्वैधीभाव है। राजा को तीखी चोंच वाले पक्षी के समान शत्रु के साधन और साध्य पर आघात करना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार राजा और उसके नेतृत्व दल को दो दलों में बाँट देना द्वैधीभाव है।

इस प्रकार द्वैधी भाव से दोहरी नीति का आश्रय लिया जाता है। आचार्यों का यह भी मत रहा है कि यदि राजा को संश्रय तथा द्वैधीभाव में से किसी एक का चयन करना हो, तो उसे संश्रय को छोड़कर द्वैधीभाव नीति को अपनाना चाहिए।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने षड्गुण को एक मंत्र की तरह माना है, जिसकी शिक्षा हर राजा के लिए अनिवार्य है, जो कि वर्तमान राजनीति में भी कारगर साबित होती है। अतः यह विवरण व्यावहारिक एवं यथार्थवादी है, जिसे राजा को यथास्थिति अपनाना चाहिए। जहाँ शत्रु शक्तिशाली हो वहाँ सन्धि करनी चाहिए। जहाँ शत्रु निर्बल हो वहाँ विग्रह करना चाहिए। जब शक्ति बराबर हो तो आसन की नीति अपनानी चाहिए तथा अपना शक्ति को मजबूत कर यान की नीति का अनुसरण करना चाहिए। जब शत्रु अत्यन्त शक्तिशाली हो तो दूसरे राजा की शरण लेनी चाहिए तथा अन्य राजा की सहायता प्राप्त कर अपने शत्रु पर विग्रह कर द्वैधीभाव नाति को अपनाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार यदि राजा को सन्धि और विग्रह में एक का चयन करना हो तो सन्धि का चयन करना चाहिए। इसी प्रकार यान और आसन में दोनों से समान लाभ हो तो आसन नीति अपनानी तथा जब संश्रय और द्वैधीभाव से समान लाभ हो तो द्वैधीभाव नीति को अपनाना चाहिए।

अतः उपर्युक्त आचार्यों ने किसी एक नीति का पक्ष न लेकर, परिस्थिति के अनुसार हर नीति का अनुसरण करने के बारे में कहा है, क्योंकि विजिगीषु राजा को उसी नीति

को अपनाना चाहिए, जिससे शत्रु का नाश तथा अपनी प्रजा का कल्याण हो।

16.2.4 चतुर्विध उपाय

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के विषय में नीतियों का निर्धारण करने में जितना महत्व षाड्गुण्य नीति का है, उससे कहीं अधिक महत्व चतुर्विध उपायों का माना जाता है। इन उपायों के माध्यम से ही राजा षाड्गुण्य नीति का संचालन भी करता है। अतः इन उपायों पर राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नीतियों की सफलता निर्भर करती है। राजा को इन उपायों का प्रयोग काल, देश और परिस्थिति के अनुरूप करना चाहिए।

प्रायः सभी राजनीतिक आचार्यों ने साम, दाम, दण्ड, भेद ये चार उपाय बताए है। महाभारत, कामन्दक, मत्स्य पुराण तथा अग्नि पुराण में इन चारों के साथ अन्य तीन–उपेक्षा, माया, इन्द्रजाल अर्थात् सात उपाय शत्रु को वश में करने में सहायक बताए हैं परन्तु यहाँ पर भी प्रथम चार को ही महत्वपूर्ण माना है। अतः प्राचीन राजशास्त्रियों द्वारा बताए गए ये नीतिशास्त्र सम्बन्धी उपाय वर्तमान तक भी राजनीति के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। राजाओं को परामर्श दिया गया है कि वे चतुर्वग उपायों को जानें, क्योंकि इनके बिना वे अन्य राज्यों के साथ यथा स्थिति व्यवहार नहीं कर पाएंगे। महाभारत के अनुसार निर्बल राजा भी इन उपायों का यथा स्थान प्रयोग करके सबल राजा को परास्त कर सकता है तथा जिन राजाओं को इन उपायों का प्रयोग करना नहीं आता वे स्वयं अपने शत्रुओं से उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार दीमक द्वारा बनाया गया मिट्टी का घर। इसीलिए भीष्मपर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार कुत्ते मांस के लिए लड़ते है वैसे ही राजा वसुधा के भोग की इच्छा के लिए आपस में लड़ते हैं तथा इस असंतुष्टि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को भोगने का प्रयास करते हैं।

इन उपायों का समुचित प्रयोग समृद्धि को बढ़ाता है तथा ऐश्वर्य प्रदान करता है । इनका स्वरूप–निरूपण निम्न है –

1) साम

साम का अभिप्राय है– शांतिपूर्वक स्तुति या प्रशंसा। इस उपाय में समझौते द्वारा शान्तिपूर्वक कार्य किया जाता है। यह सर्वप्रथम उपाय है। कौटिल्य के अनुसार इसमें एक गुण होता है, केवल और केवल शांति इसमें सामनीति में मधुर वचनों का प्रयोग करते हुए शत्रु को अपने वशीभूत करने का प्रयास किया जाता है। साम दो प्रकार का है

1) **तथ्य साम** : सज्जन पुरुषों के साथ तथ्य साम यानि सच्ची प्रशंसा करते हुए उन्हें वश में किया जाता है। यह उपाय उन पुरुषों के साथ होता है जो सरल प्रकृति, धर्म परायण, उत्तम कुलोत्पन्न होते हैं, वे तथ्य से ही साध्य होते हैं।

2) **अतथ्य साम** : दुर्जन पुरुषों के विरुद्ध इस नीति को अपनाया जाता है। यहाँ अतथ्य यानी झूठी प्रशंसा की जाती है।

इस प्रकार साम वचनों का प्रयोग करते हुए शत्रु को वश में किया जाता है। अग्नि पुराण के अनुसार शत्रु को पाँच तरीकों से शान्त किया जा सकता है –

चतुर्विधं स्मृतं साम उपकारानुकीर्तनात्।
मिथः सम्बन्धकथनं मृदुपूर्वं च भाषणं।
आयाते दर्शनं वाचा तवाहमिति चार्पणं।।

अर्थात् (1) दूसरों पर किए गए उपकार का वर्णन करके, (2) आपस के संबंध प्रकट करके (3) मधुर वाणी बोलकर, (4) भावी उन्नति का प्रकाशन करके, (5) मैं आपका हूँ इस प्रकार, आत्मीयता दिखाकर शत्रु को वश में करना चाहिए। कामन्दक ने भी इन्हीं पाँचों वाक्यों को साम के लिए आवश्यक माना है।

(2) दाम

दाम से अभिप्राय है– आर्थिक सहायता (धन) देकर शत्रु को वश में करना। दान को सभी उपायों में श्रेष्ठ माना जाता है।

सर्वेषामप्युपायानां दानं श्रेष्ठतमं मतम्।

कौटिल्य के अनुसार दान में दो गुण विधमान रहते हैं– दान और साम। लोभी व निर्धन राजा को तपस्वी व प्रतिष्ठित व्यक्तियों की मध्यस्थता में दान देकर वश में करना चाहिए कौटिल्य ने दान के पाँच भेद बताए हैं –

1) स्वयं को प्राप्त होने वाले धन का परित्याग कर देना।
2) जो सम्पति प्रतिपक्षी के पास है, उसका अनुमोदन करना।
3) प्रतिपक्षी से प्राप्त सम्पति को लौटा देना।
4) प्रतिपक्षी को स्वयं अपना धन प्रदान करना।
5) शत्रु राज्य में प्राप्त धन प्राप्तकर्ता को दे देना और अपना अंश भी न ग्रहण करना।

कामन्दक ने भी कौटिल्य की दान प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए इसे चार भागों में बाँटा है –

1) प्राप्त हुई भूमि या धन–धान्य को वापस लौटा देना।
2) अपनी भूमि जो शत्रु के अधिकार में आ गई है, उनको प्रसन्नता पूर्वक उन्हें दे देना।
3) पहले न दिए गए भूमि और धन–धान्य को प्रदान करना।
4) शत्रु से लूट में प्राप्त सम्पत्ति का कुछ अंश छोड़कर शेष लौटा देना।

अतः विपक्षी को धन आदि देकर अपने वश में करना चाहिए। यह नीति आश्वासनपूर्वक वचन, भूमि, सम्पत्ति आदि का आश्रय लेकर अपनाई जाती है।

3) भेद

भेद का अभिप्राय है– फूट पैदा करके या शत्रु की शक्ति में सेंध लगाकर। महाभारत के अनुसार सरल और कुटिल उपायों द्वारा शत्रुपक्ष में फूट उत्पन्न करके अपने राज्य की रक्षा करना ही भेद नीति है। शत्रु की संगठित शक्ति तोड़ने का एकमात्र उपाय भेद ही हो सकता है। कौटिल्य के अनुसार भेद में 3 गुण होते हैं– साम, दान, भेद 'भेदस्त्रिगण सान्त्वदानपूर्वः।' इस नीति के लिए विशेष रूप से गुप्तचरों का प्रयोग किया जाता है। कौटिल्य के अनुसार सबल राजा को दण्ड और भेद नीति से ही वश में किया जा सकता है।

भेद दण्डाभ्यां बलवतः

जिन राजाओं का आपसी बैर हो, उनमें परस्पर द्वैष पैदा करके एक दूसरे से भिन्न कर देना चाहिए।

परस्पर द्वेष वैर भूमि हरणंशकितमतोऽन्यतमेन भेदयेत्, अतः जब शत्रु की स्थिति स्थिर न रह रही तो तब उसी के विश्वासपात्र व्यक्तियों द्वारा शत्रु की सेना में भेद (मतभेद) उत्पन्न करके राजा के राज्य की आदि, मध्य और अंतिम सीमा को ज्ञात कर उसकी सेना का संगठन तोड़ना चाहिए। महाभारत के अनुसार शत्रु राजाओं के शत्रु पक्ष के योद्धाओं को अपने पक्ष में मिलाकर, अन्तिम क्षण तक शत्रु से युद्ध किया जाना चाहिए।

कुरूक्षेत्र मैदान में युधिष्ठिर भेद नीति का सहारा लेते हुए शत्रुपक्ष की सेना को कहते हैं कि – ''जो कोई भी सहायता के लिए हमारे पक्ष में आना स्वीकार करे, उसे स्वीकार करूँगा। यह सुनकर युयुत्सु कौरवों की सेना से पाण्डवों की सेना में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति द्वारा बड़ी चतुराई से भेदनीति का पालन करना चाहिए।

इसीलिए भीष्म पितामह कहते हैं कि – न्याय शास्त्री, शास्त्रीय विधि ज्ञाता, सुशिक्षित तथा भाष्यकथा विशारद विद्वानों को वस्त्राभूषणों से अलकृत करके शत्रुओं पर भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए। जिस प्रकार राम न विभीषण को शरण देकर रावण पक्ष में फूट डाली थी।

अतएव सुसंगठित, नीतिकुशल शत्रु के प्रति भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार भेद नीति का प्रयोग उन्हीं शत्रु राजाओं के प्रति करना चाहिए, जो दुष्ट प्रकृति, क्रुद्ध स्वभाव, भयभीत हो।

परस्परं तु ये दुष्टाः कुद्धा भीतावमानिताः।
तेषां भेदं प्रयुञ्जीत भेदसाध्या हिते मताः।।

अतः राजा को भेद डालने वाले व्यक्ति को सब प्रकार से सहायता देकर प्रसन्न रखते हुए शत्रु की संगठन शक्ति को तोड़ना चाहिए। भेद के अनेक प्रकार हो सकते हैं, यथा–

1. शत्रु और उसकी प्रकृति तथा उसके मित्र राजाओं के बीच के अनुराग को खत्म करके।
2. उनमें परस्पर संघर्ष पैदा करके।
3. उन्हें धमकी देकर वश में करना।

न शक्या ये वशे कर्तुमुपायत्रितयेन तु।
दण्डेन तान वशीकुर्याद् दण्डो हि वशकृन्नृणाम्।।

(4) दण्ड

कूटनीतिक उपायों में दण्ड को अन्तिम स्थान दिया गया है। पूर्वोक्त नीतियों के विफल होने की स्थिति में दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि दण्डनीति में पूर्वोक्त तीनों साम, दान, भेद विराजमान रहती है।

''दण्डचतुर्गुः सांत्वदानभेदपूर्वः'' कौटिल्य के अनुसार सबल शत्रु को दण्ड से वश में करना चाहिए –

भेद दण्डाभ्यां बलवतः।

प्राचीन सभी आचार्यों ने स्वीकारा है कि दण्ड हीन राजा अपनी प्रजा को कभी सुखी नहीं रख सकता, क्योंकि दुर्जनों का दमन आवश्यक है तथा यह कार्य दण्ड द्वारा ही हो सकता है। हालांकि राजा को सर्वप्रथम पहले तीनों उपायों का ही प्रयोग करना चाहिए, उसके पश्चात् अन्तिम उपाय दण्ड का प्रयोग लोकानुग्रह की कामना से धर्मशास्त्रानुसार ही करना चाहिए।

यस्माद् दण्डो दमयति दुर्मदान् दण्डयत्यापि।
दमनाद् दण्डनाच्चौव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः।।

दण्ड दो प्रकार का होता है –

1) **प्रकाशित दण्ड** : जिस दण्ड के अन्तर्गत युद्ध, लूटपाट करना, सब कुछ तहस–नहस कर शत्रु की फसलों आदि को नष्ट कर देना आग लगाना आदि प्रकाशित दण्ड में सम्मिलित है।

2) **गुप्त दण्ड** : जहर देना, गुप्तचरों द्वारा शत्रु की हत्या करवाना. जलाशयों आदि में जहर डलवा देना, शत्रु के अस्त्रों–शस्त्रों को नष्ट करवाना, सत्पुरुषों को अपमानित कर राज्य से निकलवा देना, ये सब उपाय गुप्त दण्ड में किए जाते हैं।

इस प्रकार दण्ड नीति के लिए समुचित अवसरों का वर्णन भारतीय राजशास्त्र में मिलता है। महाभारत के अनुसार दण्ड विवशता की स्थिति में प्रयोग करने की व्यवस्था है अर्थात् जब दुर्जन लोग अन्य नीतियों से वश में नहीं आते, तो उनके लिए दण्ड नीति का प्रयोग किया जाता है। अतः दण्ड नीति मुख्यतः शत्रु का वध करने, उसका अपहरण करने, उसे बन्धक बनाकर प्रताड़ित करके उसे कष्ट पहुँचाना है।

इस प्रकार राजनीति में समान्यतः चारों नीतियों का प्रयोग किया जाता था और वर्तमान में भी इनकी उतनी ही प्रासांगिकता है। हालांकि समाज, देश, काल, परिस्थिति के अनुसार तरीके बदल सकते हैं, परन्तु आज भी इन चारों नीतियों को अभीष्ट फल प्राप्ति के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है।

अतः एक योग्य राजा के लिए विजय और पराजय के निर्धारण में ये उपाए उपयोगी सिद्ध होते हैं।

16.2.5 त्रिविध शक्तियाँ

भारतीय राजशास्त्र में राज्य की तीन शक्तियों के विषय में उल्लख मिलता है, जो निश्चित रूप से राजा में विराजमान रहती हैं, ये हैं– मंत्र शक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के षष्ठ अध्याय में तथा राज्य के सप्तांगों के विषय में बताते हुए इन शक्तियों की चर्चा विस्तारपूर्वक की है।

शक्तिस्त्रिविधा–ज्ञानग्लं मंत्रशक्तिः,
कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः।

अर्थात् ज्ञान बल मंत्रशक्ति, कोश और दण्ड प्रभु शक्ति तथा विक्रम बल उत्साह शक्ति है। इन तीनों शक्तियों से युक्त राजा श्रेष्ठ तथा सम्पन्न होता है। इन तीनों शक्तियों को आगे क्रमशः इन्हीं नामों से तीन सिद्धियाँ कहा गया है – मंत्र सिद्धि, प्रभु सिद्धि और उत्साह सिद्धि।

मंत्र शक्ति : राज्य की उत्पत्ति, उसकी स्थिति एवं वृद्धि का एकमात्र कारण राजा ही होता है, अतः जो राजा इन तीनों शक्तियों से युक्त होता है, वह अपनी प्रजा के नेत्रों में उसी प्रकार आनन्द देता है, जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा समुद्र को आह्लादित करता है। कौटिल्य के अनुसार मंत्र शक्ति पाँच प्रकार की होती है– सहाय, साधन, उपाय, देशकाल–विभाग और विपत्ति प्रतीकार।

अतः राजा के अन्दर "वाग्मी, प्रगल्भ, निपुण, बलवान, सन्धि–विग्रह, ज्ञाता, गूढ़ मंत्र प्रचारक, विविध प्रतीकारों को जानने, उचित वैर करने वाला आदि गुण होने चाहिए। उसे क्रोध, भय, लोभ, सफलता, अभिमान, चुगली, असत्य, ईर्ष्या आदि दोषों से रहित होना चाहिए। अतः उसे सामर्थ्य युक्त, प्रियदर्शी और गुणों का अभिलाषी होना चाहिए। इन गुणों से युक्त राजा ज्ञान बल से युक्त मंत्र शक्ति को धारण करता है। इसीलिए नीतिवाक्यमृत में मंत्र शक्ति को बुद्धि शक्ति कहा गया है। कौटिल्य ने ऐसे राज्य को 'आत्मसम्पद्' कहा है।

प्रभुशक्ति : प्रभुशक्ति अर्थात् प्रभाव शक्ति। यह राजा के आधार को बताती है अर्थात् इससे पता चलता है कि राजा कितना प्रभावशाली है। प्रभुशक्ति के अन्तर्गत कोश तथा दण्ड दो साधन आते है और ये दोनों ही शासक के महत्वपूर्ण अंग है। यदि राजा का कोश अधिक होगा तो पता चलता है कि राज्य में संसाधन भी पूर्ण हैं तथा इसके साथ–साथ दण्ड ही कोश को सुरक्षित रखने तथा प्रजा की भी सुरक्षा करने के लिए आवश्यक है। दण्ड से अभिप्राय यहाँ सेना से भी है, क्योंकि सेना का कार्य होता है, सीमाओं की सुरक्षा के साथ–साथ प्रजा का कल्याण जो कि राजा का महत्वपूर्ण कार्य है। इसके साथ–साथ राज्य में स्थित चोर, अपराधियों के लिए भी दण्ड की व्यवस्था आवश्यक है ताकि प्रजा सुरक्षित महसूस कर सके।

उत्साह शक्ति : तीसरी शक्ति उत्साह शक्ति है इसे राजा का आत्मबल भी कह सकते हैं। इस शक्ति का मुख्य आधार पराक्रम और बल को माना गया है। राजा को अपने शत्रुओं और विरोधियों से पराक्रमी होना चाहिए।

इस प्रकार ये तीनों शक्तियाँ सम्पूर्ण शक्ति का आधार है, जिससे व्यक्ति श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। भारतीय आचार्यों के अनुसार जो व्यक्ति इन तीनों शक्तियों से युक्त होता है, वह श्रेष्ठ होता है। क्योंकि यही शक्तियाँ राज्य को सुदृढ़, सुव्यवस्थित और स्थिर बनाती हैं। इन तीनों शक्तियों से रहित व्यक्ति हीन (अधम) तथा तीनों शक्तियों में सम स्थिति वाला व्यक्ति सम (मध्यम) होता है। अतः किसी भी विजिगीषु राजा में इन तीनों शक्तियों का होना आवश्यक है, नहीं तो राजा अपने राज्य को स्थिर रखने की क्षमता नहीं रखता है।

16.3 भारतीय राज्यव्यवस्था का महत्व

प्राचीन भारतीय विचारक राज्यों के मध्य परस्पर सौहार्द की अनुभूति से अवगत थे। प्रतिवेशी राज्यों के परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार बनते और विकसित होते हैं उनके मध्य स्वाभाविक व्यवहार कैसा होता है इस विषय को राजनीतिक विचारकों ने व्यवहारिक रूप से समझ कर ही विभिन्न परिस्थितियों में राजा के द्वारा प्रयोग की जाने वाली यथानुकूल नीतियों का परामर्श दिया है। राजा कब अपने से अधिक बलवान अथवा समशक्ति युक्त राजा के साथ सन्धि कर ले और कब दुर्बल राजा को युद्ध में पराजित कर अपने अधीन कर ले और अपनी शक्ति का विस्तार कर ले, शक्ति के सन्तुलन के इस सिद्धान्त पर आधारित है– '**मण्डल सिद्धान्त**' और '**षाड़गुण्य सिद्धान्त**'।

16.4 सारांश

प्राचीन भारत में राज्य–व्यवस्था की विविध सिद्धान्तों का पर्याप्त विकास हुआ था। विविध प्राचीन ग्रंथों में इन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। राज्य अनुशासन के आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। स्वतंत्र रूप से राज्य–व्यवस्था पर विचार करने वाले आचार्य कौटिल्य ने अत्यंत विस्तार से उनके स्वरूप, भेद और प्रयोजन की गवेषणा की है। इन सिद्धान्तों में षाड्गुण्य अंगों और उपायों का बहुत महत्व है। षाड्गुण्य है– संधि, विग्रह, आसन, यान, संशय और द्वैधीभाव। संप्ताग है – स्वामी, आमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कौश, बल और सुहद्। चार उपाय है – साम, दाम, भेद और दण्ड। स्पष्टतः राज्य–व्यवस्था के विविध सिद्धांतो के माध्यम से छात्र प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था से परिचित हुए होंगे।

16.5 बोध प्रश्न/ अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. राज्य के सप्तांग सिद्धान्तों का वर्णन करें।
2. मण्डल सिद्धान्त पर टिप्पणी करें।
3. षाड्गुण्य सिद्धान्त पर विस्तारपूर्वक लिखें।
4. त्रिवर्ग शक्तियाँ कौन–कौन सी है? स्पष्ट कीजिए।
5. चतुर्विध उपायों पर टिप्पणी कीजिए?

16.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- कौटिल्य–अर्थशास्त्र, सं.–श्री भारतीय योगी, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1995.
- कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएँ, कमलेश अग्रवाल, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2001.
- प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थायें, कृष्णकुमार, श्री सरस्वती सदन, दिल्ली, 1998.
- प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन, मुकेश कुमार बंसल, ज्योति इन्टरप्राईज़िज, दिल्ली, 2009.
- भारतवर्ष का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, (प्रथम भाग) आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव एवं सत्यनारायण दुबे, शिव लाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1996.
- राजधर्मविमर्शः, जयकृष्ण मिश्र, जगन्नाथ संस्कृत विद्यालय, पुरी, 2003.
- राजनीतिक सिद्धान्त और शासन, कृष्णकान्त मिश्र, ग्रन्थशिल्पी, दिल्ली, 2001.
- राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पुखराज जैन, साहित्य भवन, आगरा, 1966.
- राष्ट्रीय एकता और भारतीय साहित्य, काशी अधिवेशन स्मृति ग्रन्थ, अखिल भारतीय साहित्य परिषद्, सं. योगेन्द्र गोस्वामी, 2001.